तुलसी प्रज्ञा : अनुसंधान त्रैमासिकी

Tulsī Prajñā—Research Quarterly

पूर्णाङ्क-१०१

6829

जैन विश्व-भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूं ३४१ ३०६ (राज०) भारत

Jain Vishva-Bharati Institute Research Journal

Vol. XXIII April-June, 1997 No 1

Editor
PARAMESHWAR SOLANKI

Articles for Publication must accompany with notes and reference, separate from the main body.

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers It is not necessary that the INSTITUTE agree with them.

Editorial enquiries may be addressed to : The Editor, Tulsi Prajñā, JVBI Research Journal, Ladnun-341 306 (INDIA).

Annual Subs Rs. 60/- Rs. 20/- Life Membership Rs. 600/-

Published by Dr. Parmeshwar Solanki for Jain Vishva-bharati Instit Demed University, Ladnun-341 306 and printed by him at J. n Vishva-bharati Press, Ladnun—341 306. Published on 23.6.97

अमुक्रमणिका/Contents

प्रकीर्णकम्

English Section

पाणिनीयेतर प्राचीन व्याकरण-परंपरा की शोध

तुलसी प्रज्ञा में 'सम मेरिटस् ऑव का-तंत्र'—(पूर्णांक ९४) और 'वर्णमाला में जैन दर्शन'—(पूर्णांक ९५) शीर्षक से भारत में प्रचलित रही पाणिनीयेतर व्याकरण-परम्परा के कुछ संकेत दिए गए। माहेश्वर-परम्परा से विलग यह प्रत्याहार विहीन व्याकरण की पद्धति पश्चिमोत्तर भारत में बहुत लोकप्रिय थी।

सिद्धर्षिसूरि का 'उपमिति भव प्रपंचा कथा'—(दशवीं सदी) में इस पद्धति के प्रचलित होने का ब्यौरा है। उपर्युक्त 'वर्णमाला में जैन दर्शन'—जैसी सिधी पाटी की तरह यहा अनेकों पाटी विगत शताब्दी तक प्रचलन में रही हैं। दूसरी पाटी का एक विवरण इस प्रकार है—

'सिधो वरणा समामुनाया:। चत्रु चत्रु दासा: दऊसवारा:। दसे समाना:। तेषु दुध्या वरणा: नसीस वरणा:। पुर वो हुंसवा:। पारो दीरघा:। सरो वरणा विणज्या नामी:। इकार देणी सीधकराणी:। कादी: नीबू विणज्यो नामी:। ते विरघा: पंचा पंचा। विरघानाऊ प्रथम दुतिया: संषोसाईचा घोषा। घोषपितरो रती:। अनुरे आसका: निनाणे नामा:। अनेसंता जेरेल्लवा.। ख्कमण संषोसाहा। आयती: विसुरजुनीया:। कायतोजिह्वा मूलिया:। पायती पदमानीया। आयो आयो रतकसवारो.। पूरबो फल्यो रथा रथो पालरेऊ पदु पदु:। विणज्यो नामी: सरूवरू वरणानेतू। नेतकरमैया:

रासससलाकी जेतुः । लेषोः पचाईड़ाः दुर्गण सीधीः ।'

—यह सिधी पाटी (वर्णमाला) के बाद दूसरी पाटी है जो कौमार व्याकरण का सन्धिपाद है ।

इसमें वर्णमाला के १४ स्वर, २५ व्यजन, ४ अन्तस्थ, ४ ऊष्माण, १ विसर्ग, १ जिह्वामूलीय, १ उपध्मानीय, १ अनुस्वार, १ पूर्वपर—कुल ५२ वर्णों का परिचय है । पहली पाटी मे—

अ,आ— आइड़ा दो भाइड़ा, बड़ा भाई रे कानो—

इस क्रम से वर्णमाला सीखी जाती; दूसरी पाटी मे वर्णमाला का परिचय होता और अगली पाटियों मे पद और उसकी निष्पत्ति आदि का ज्ञान कराया जाता ।

इस प्रकार कुल पाच पाटी पढ़ने-सीखने के बाद गणित (महाजनी) शुरू होती । यह पाणिनि-पद्धति से पृथक् प्राचीन कातन्त्र की परिपाटी थी जो काशकृत्स्न-व्याकरण का संक्षेप है । कथा सरित्सागर (लम्बक १ तरग ६,७) मे दिए विवरण के अनुसार यह संक्षेप शर्ववर्मा ने सातवाहन भूपति के लिए किया था ।

वैदिक वाङ्मय के इतिहास मे काशकृत्स्न को बादरायण शिष्य कहा गया है । महाभाष्य - पस्पशाह्निक के अन्त मे तीन प्राचीन ग्रथो के उल्लेख—**पाणिनि प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम्**—मे भी काशकृत्स्न व्याकरण सर्वाधिक प्राचीन है । पं० युधिष्ठिर मीमासक ने कन्नड़ टीका सहित मिले प्राचीन काशकृत्स्न शब्द कलाप (धातु पाठ) से १४२ सूत्र निकाल कर काशकृत्स्न-व्याकरण का प्राथमिक प्रकाशन किया है । इन सूत्रो मे पाणिनि द्वारा पठित **तदर्हम्** (५ १.११७) सूत्र नही है जिसके लिए भर्तृहरि लिखते है—**तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे** और हेलाराज इस पर टीका करते हुए लिखते है—

आपिशलाः काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतन्नाधीयते ।

कातन्त्र के एक अन्य सूत्र—**भिसऐस् वा** (२.१.१८) से भी ऐसा प्रतीत होता है कि उसके निर्माण काल मे **देवेभिः** और **देवैः**—दोनों प्रयोग साधु थे जबकि पाणिनि-व्याकरणानुसार केवल एक पद—**देवैः** ही साधु है । और भी ऐसे अनेको पद हैं जिनका पाणिनीयतत्र मे निर्देश नही है । जैसे— **ब्रह्म** (बृह् धातु में ऋकार को र), **कश्यपः, कशिपुः** (कश् धातु मे अप् और ईपु); **पुलस्त्यः**, **अगस्तिः** (पुल्, अग् धातुओं को अस्त्य, अस्ति); **लक्ष्मीः**, **लक्ष्य**, **लक्ष्मणः** (लक्ष् धातु मे मी, मन्, मन)—इत्यादि का विधान **कातंत्र** में है ।

वस्तुतः काशकृत्स्न (सक्षेप-कातत्र) मे गुरु लाघव है । अर्थात् उसमे लोक मे प्रयुक्त शब्द हैं, अप्रयुक्त नही । यह विशुद्ध लौकिक भाषा का व्याकरण है । उदाहरणार्थ पाणिनि के चार सूत्रो—**अर्वणस्त्रसावनञः, मघवा बहुलम् दीर्घो वेवीटाम्, इन्धि भवति भ्यांच**—को ले । इनमे प्रथम दो सूत्रों से अर्वन्तौ, अर्वन्त.; मघवन्तौ, मघवन्तः प्रयोग बनते हैं । पतजलि इन्हें छान्दस कहते हैं किन्तु **कातंत्र** मे इनके लिए दो सूत्र—

अर्वंस्त्रर्वन्तिरसावनञ्, सौच मघवान् मघवा—मौजूद है। इसी प्रकार दूसरे दो सूत्रों में दीधीङ्, वेवीङ् और इन्धी धातुओं का निर्देश है जिन्हें महाभाष्यकार छान्दस कहते हैं किन्तु **कातंत्र** के—**दीधीवेव्योश्च परोक्षायामिन्धिश्रन्थि ग्रन्थिदम्भीनाम गुणे**—सूत्रों मे ये धातु पठित हैं।

पाणिनि व्याकरण और कातन्त्र व्याकरण मे जो अन्तर है उसका एक विवरण डॉ० **वृषभप्रसाद जैन** के उक्त लेख (सम मेरिटस् ऑव कातन्त्र) मे दे दिया गया है और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि कातन्त्र की पद्धति पाणिनीय से बहुत सरल और सुगम है। वहा **दीर्घ गुण वृद्धि** की मोरफोलोजी नही है। इसके अलावा पाणिनि ने **धातु, समास, कारक, पद** आदि किसी भी सज्ञा का अर्थ नहीं दिया जबकि कातन्त्रकार **क्रियाभावो धातुः, नाम्नां युक्तार्थः समासः, यः करोति स कर्ता, यत् क्रियते तत् कर्म, येन क्रियते तत् करणम्, यस्मादित्सा रोचते, धारयते वा तत् सम्प्रदानम्, यतोपैति भयमादत्ते तदपादानम्, तद आधार यदधिकरणम्** और **पूर्वापरयोर्थोपलब्धौ पदम्**—इस प्रकार सभी को स्पष्ट किया है।

कहा गया है कि- **यावांश्च अकृतको विनष्टः शब्दराशिः तस्य व्याकरणमेवैकम् उपलक्षणम्**—अर्थात् जितना स्वाभाविक शब्द समूह नष्ट हो गया उसका ज्ञान केवल व्याकरण से ही हो सकता है। यह उक्ति बताती है कि पाणिनि के समय बहुत सारे ऐसे शब्द थे जो लोक-व्यवहार में प्रयोग नही होते थे किन्त उनकी प्रकृतिया सुरक्षित थी और बहुत सारे ऐसे शब्द भी थे जो लोक मे प्रयुक्त हो रहे थे किन्तु व्याकरण में उनकी प्रकृतिया सुरक्षित नही थी। कातन्त्रकार ने गुरु लाघव से अप्रयोगतव्य शब्द छोड दिए और प्रयुक्त शब्दों को ले लिया। यही उनकी सबसे बडी विशेषता बन गई।

यही नही, पाणिनि द्वारा द्वारा जो धातुए नही पढ़ी गई ऐसी बहुत सी धातुएं काशकृत्स्न-धातु पाठ मे है और उनसे बने शब्द लोक मे प्रयुक्त भी है। जैसे ढुढि धातु (१.१९४) का प्रयोग **ढूंढना** (खोज करना)। इसका प्रयोग स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में भी है—

अन्वेषणे ढुण्ढिरयं प्रथितोऽस्ति धातुः सर्वार्थ ढुण्ढितया तव ढुण्ढिनाम।

इसी प्रकार मृ—धातु का प्रयोग 'मरति'=**मरता** है। इसका प्रयोग मुकाम(नोखा) के पास मिले एक देवली लेख मे इस प्रकार मिला है—**संवत् ११८९ आसउज सुद ११ तिथु मगामहसुत सुत्र-असुगपण मरतिः।**

इसी प्रकार प्राचीन वाङ्मय मे भी अनेकों ऐसे प्रयोग जब तब विवाद का विषय बनते रहते हैं जो पाणिनीय व्याकरण से साधु प्रतीत नहीं होते; किन्तु उन्हें असाधु कहना अपने ही अज्ञान को प्रकट करना है। पाणिनि ने **समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (७.१.३७) सूत्र द्वारा समास मे **क्त्वा** के स्थान पर **ल्यप्** का विधान किया है किन्तु स्वय पाणिनि ने ही अपने **जाम्बवती विजय--महाकाव्य में ल्यप्** का स्वतंत्र प्रयोग भी किया है—

संध्यावधूं गृह्य करेण भानुः

(नमि साधु कृत रुद्रट काव्यालंकार टीका में उद्धृत)

सारांश यह है कि माहेश्वर-परम्परा से पृथक् जो व्याकरण पद्धति प्रचलन में थी वह जैन वाङ्मय में सुरक्षित हो सकती है। 'सद्दपाहुड़' की कथा सुनी जाती है। पूज्यपाद देवानंदी ने श्री दत्त, यशोभद्र, भूतबलि, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि को व्याकरणकर्त्ता के रूप में उल्लिखित किया है। और भी अनेकों जैन व्याकरण संबंधी संदर्भ मिलते हैं। अतः इस क्षेत्र में अभिनव शोध होना चाहिए।

—परमेश्वर सोलंकी

पर्यावरण विकास का अनिवार्य सोपान है।

श्रीमती इन्दु पाण्डेय

"यह धरती सबकी जरूरतें पूरी कर सकती है, मगर किसी एक का भी लालच यह पूरा नहीं कर सकती"- महात्मा गांधी के इस कथन में पर्यावरण के प्रति जागरूकता प्रदर्शित हुई है। पर्यावरण की चिंता मूलरूप में संस्कृति की चिंता है और इसीलिए इसमें सफलता की संभावनाएं केवल तभी होंगी, जब राष्ट्रीय पर्यावरण की नीति से जनता को सीधे तौर पर जोड़ा जाएगा। इसके प्रति सचेत होना आज एक बडी चुनौती है। इस विषय पर हमारी चिंताएं वैश्विक सोच का ही अनुक्रम है। पर्यावरण-सुरक्षा के लिए कुछेक आंदोलन आज क्रियात्मक रूप से जीवित हैं। परिवर्तन का उद्घोष हमेशा से मुट्ठी-भर लोग ही कर पाते हैं; इसलिए यह एक शुभ-संकेत है। ये आंदोलन अल्लटप्पू नहीं हैं। इनके पीछे चिंतन है, मनन है। इनका निष्कर्ष यह है कि पहले मनुष्य केन्द्र में था, मगर अब पर्यावरण को केन्द्र में रखे बिना काम नहीं चलेगा।

अपनी प्रज्ञा और विवेक के कारण मनुष्य निर्विवादत: प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट रचना है और पर्यावरण का चौधरी होने के नाते हर अच्छे-बुरे का जिम्मा भी उसी का है। जैविक रूप में भी प्रकृति का अटूट अंग होने के कारण इसके प्रति उसकी दृष्टि सहयोगी की, दर्शन समग्रता का और भूमिका स्वसंतुलक की होनी चाहिए। पर्यावरण का अर्थ और आशय इतना ही है। जैसे-जैसे यह संकट बढ़ रहा है, हमारे जीवन का ग्राफ घटता जा रहा है। आज सब कुछ तो है, लेकिन जिंदगी जैसे कहीं खो गयी है। इसलिए पर्यावरण-संस्कृति को समझना आज के कुछ बड़े कामों में से एक होना चाहिए। अस्तित्व से जुड़ी ये बातें हमारे लिए सबसे ज्यादा महत्त्व की हैं, क्योंकि साफ हवा में जन्म लेना और जिन्दा रहना मनुष्य का बुनियादी अधिकार है। प्रश्न यह है कि यदि हमारे सारे सिद्धांत सही हैं तो उनके परिणाम गलत क्यों निकलते हैं ? उत्तर यह है कि हम अब तक एक ऐसी संस्कृति का विकास नहीं कर सके हैं, जिसे **पर्यावरण की संस्कृति** कहा जा सके या ऐसे पर्यावरण को विकसित नहीं कर सके है कि जिसे संस्कृति का पर्यावरण बताया जा सके।

वर्ड्सवर्थ ने लिखा है कि—"A single spirit from vernal wood can tell more of man than all the sages can."(प्रकृति-देवी एक बार में ही मनुष्य को उसके सार्थक जीवन के लिए इतना उपदेश दे सकती है, जितना कि पूरे जीवनकाल में उसे संतों से भी उपलब्ध नहीं हो सकता)। पर्यावरण प्रकृति का अनुशासन है, उसका

पर्याय भी है। इसे ही हमारी प्राचीन परम्परा में प्रकृति कहा गया है। यह प्रकृति वस्तुओं का समूह-मात्र नहीं है। यह आनुवंशिकता की तरह एक संपूर्ण व्यवस्था या तंत्र है।[1] यह हमारे ढांचे में नहीं ढल सकती, हमें ही इसके ढांचे में ढलना होगा। इसके प्रति हमारी दृष्टि और दृष्टिकोण शुरू से ही संरक्षण और श्रद्धा का रहा है। हमारी संस्कृति पर्यावरण की सहयोगी संस्कृति है।। प्रकृति को संपूर्ण मानते हुए हमने अपने को इसका न्यासी और संतान माना है, स्वामी नहीं। हमारी संस्कृति के आधार दोहन और पोषण थे। किसी भी तरह के शोषण को इसमें स्वीकृति नहीं थी। हमारी परम्परा का प्रकृति से कोई टकराव नहीं है। इसी परम्परा में उत्तर तलाशने की आज आवश्यकता है, क्योंकि परम्परा का अर्थ हमेशा प्रतिगामी नहीं होता है।[2]

इतिहास और संस्कृति का विकास पर्यावरण से ही हुआ है। दूसरे शब्दों में पर्यावरण हमारी संस्कृति का स्रोत है, इसलिए हमें इसे सुरक्षित भी रखना है और पवित्र भी। वेदों में कहा गया है कि—

"यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश,
यो औषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः।"

यानी जो अग्नि, जल, आकाश, पृथ्वी और वायु से आच्छादित है तथा जो औषधियों एवं वनस्पति में विद्यमान है, उस पर्यावरणीय-देव को हम नमस्कार करते हैं। सांख्य-सिद्धांत के अनुसार सृष्टि पांच तत्वों से बनी है। अफलातून की 'Republic' में की गई कल्पना के अनुसार भी परमात्मा की देह पृथ्वी, मस्तक स्वर्ग, आंखें, सूर्य और चन्द्रमा तथा मन आकाश है। पंचतत्त्वों की यही व्यवस्था हमारे यहां पारस्परिक अंतःनिर्भरता और गत्यात्मक संतुलन की व्यवस्था है। इसी कारण भारतीय जीवन वस्तुतः प्रकृति पर आधारित जीवन है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भारतीय संस्कृति को 'आरण्यक संस्कृति' की जो उपमा दी है, वह संभवतया इसीलिए।

डॉ० छगन मोहता के अनुसार—"हमारी अर्थव्यवस्था की यजमानी प्रवृत्ति पर्यावरण से ही संबंधित थी।" कालांतर में मानवीय श्रम दम तोड़ता गया और यांत्रिकता हावी होने लगी। इस तरह हमारी पर्यावरण-समस्या अतिऔद्योगीकरण का परिणाम नहीं, वरन विकास की अपूर्णता का प्रतीक है। भौतिकतावाद इसका कारण है और प्रदूषण इसका परिणाम। यह एक कड़वा सच है कि यदि विकास के पैटर्न में बदलाव नहीं लाया गया तो अगले पचास वर्षों में आसमान का रंग तक बदल जाएगा। ऐसे में नैतिकता के बुनियादी धर्म के लिए कोई गुन्जाइश नहीं बचती है। व्यक्ति के अनुसंधान राजनीतिक रूप से प्रदूषित (और केन्द्रीकृत भी) अर्थसत्ता की परिपुष्टि के लिए होते हैं और दुष्फलतः आसुरी वृत्तियों का दबाव बढ़ता जाता है। ऐसी प्रौद्योगिकी के निष्कर्ष समाजोन्मुखी नहीं होते। जबकि एक समय बौद्धिक निष्ठाएं केवल समष्टि के लिए होती थी। विकास का अर्थ उचित विकास से तो है, मगर वह सबके लिए होना चाहिए, कुछ-भर के लिए नहीं। विकास का प्राथमिक उद्देश्य विषमता कम करना होता है, उसे बढ़ाना नहीं। असम-विकास बेमानी कम, घातक अधिक होता

है। डॉ० राधाकृष्णन ने कहा है कि—भौतिक सफलता के कारण हमारे मन में अभि-मान की वह मनोदशा उत्पन्न हो गयी है, जिसके कारण प्रकृति का मानवीकरण करने के बजाय हमने उसका शोषण प्रारम्भ कर दिया है। सामाजिक जीवन ने हमें साधन तो दिये, पर लक्ष्य नहीं।"[3] यही निहितार्थ चिंता पैदा करने वाला है।

स्वाधीनता के बाद भी बर्तानवी हुकूमत और प्रौद्योगिकी का जुआ न उतार फेंकने का नतीजा हमें भुगतना पड़ा है और यही वजह है कि अविराम-संघर्ष की संभावनाएं अभी-भी शांत नहीं हुई हैं। हमारे पारम्परिक पर्यावरण को पश्चिमी कलुषित छाया ने ही मैला किया है। यानी समस्या जितनी पर्यावरण की है, उतनी ही भौतिक सभ्यता के बुरे परिणामों की भी है। विकास के लिए सीमातीत तकनीक का प्रयोग हमेशा पर्यावरण के अव्यवस्थापन को जन्म देता है। प्रौद्योगिकी को विकास का मेरूदण्ड मानने वाले लोग पर्यावरणवादियों पर विकास-विरोधी होने का आरोप सहजता से लगाते रहते हैं, किन्तु मान्य यथार्थ यह है कि पर्यावरण क्षरण से शक्ति का क्षय होता है और अक्षमता बढ़ती है। और अक्षमता से अर्थव्यवस्था दुष्प्रभावित होती है, यह कोई कहने की बात नही है। इसलिए दीर्घकालीन योजनाओं और पर्यावरण में एक घना-रिश्ता जरूरी है तथा विकास की परिभाषा एवं इसके प्रति रूढ़िवादी नजरिये मे बदलाव और बेजा-विकास से परहेज भी जरूरी है। तय यह करना है कि हमें विकास किसका चाहिए --अपना और समाज का या कि केवल यंत्रों का ? यदि विकास का उत्सर्जन परिवेशिकी पर हमला करता है तो ऐसा विकास हमारे लिए धेले-भर का भी नहीं है। विकास की विसंगति ने सांस्कृतिक, सामाजिक और राज-नीतिक पर्यावरण को बुरी तरह से प्रभावित किया है, आर्थिक पर्यावरण को तो किया ही है। विकास के रास्तो को हम बन्द नही कर सकते हैं, इसकी गति को भी नहीं मोड़ सकते हैं, किंतु इनसे भटकने की चिन्ता तो कर ही सकते हैं। आइंस्टीन ने एक बार कहा था कि—"लगभग सभी वैज्ञानिक आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह आश्रित हैं और ऐसे वैज्ञानिकों की सख्या बहुत थोड़ी है, जिन्हें सामाजिक उत्तरदायित्व का थोड़ा-बहुत बोध हो।"[4]

विकास का लाभ अल्पसंख्यकों को मिले और बहुसंख्यक इसके मोहताज बने रहें, यह एकांगी दृष्टि है, समग्र विकास नहीं, किन्तु वर्तमान विकास का यही दुर्भाग्यपूर्ण अर्थ शेष रह गया है। सी. जी. जुंग ने "मार्डन मैन इन सर्च आफ ए सोल' में लिखा है कि—"यह विकास मानव की शुभाकांक्षाओं की दृष्टि से अधिकतम निराशाजनक है। आधुनिक मनुष्य को मनोविज्ञान की भाषा में कहे तो लगभग प्राणान्तक आघात पहुंचा है और वह घनी अनिश्चितता में जा पड़ा है।"[5] इसलिए विकास का पारि-स्थितिकी और अर्थ शास्त्र (Ecology and Economy) में तालमेल एक निपट अनिवार्यता है। दरअसल विकास प्रकृति को उपयोगितावादी दृष्टि से देखता है। नतीजा यह होता है कि वह सारी आंतरिक शक्ति नष्ट हो जाती है जो जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करती है। औद्योगिक संस्कृति के घटाटोप में आंग्ल कवि लुईमैक्नीस की कविता "अजन्मे शिशु की प्रार्थना" इन्हीं विकृतियों को नंगा करती है। इसलिए पर्यावरण को

सर्वांगीण विकास की समिधा से जोड़ने का आज कोई विकल्प नहीं रह गया है। बुनियादी सवाल प्राकृतिक घटकों के असंतुल-संतुलन का है, क्योंकि विकास और पर्यावरण-संरक्षा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसी वजह से औद्योगिक-क्रांति के परिणामों और पर्यावरणीय विचारों में संतुलन जरूरी है। "धर्मो रक्षति रक्षितः" की तर्ज पर जो पर्यावरण की रक्षा करता है, पर्यावरण उसकी रक्षा करता है।

सन् १९७२ के स्टोकहोम सम्मेलन ने पर्यावरण को अक्षुण्ण रखते हुए विकास (यानी "पर्याविकास') की धारणा को जन्म दिया था। इस सम्मेलन का सार यह था कि चूंकि अतारतम्यता हिंसा को प्रवृत्त करती है, अतः प्रकृति से तारतम्यता जरूरी है। शायद यही कारण है कि यूनेस्को की प्रस्तावना में यह लिखा गया है कि—"युद्ध मानव मस्तिष्क से शुरू होते हैं, अतः शांति भी इसी में होना आवश्यक है।"[६]

"गांवों को ईश्वर ने बनाया है और शहरों को मनुष्य ने"- यह कहावत है, तो पर्यावरण का यथार्थ भी है। पर्यावरण में आ रही गिरावट की मुख्य वजह अनुशासन की कमी है। इसे रोकने के लिए **कार्यलक्षी वैज्ञानिक दायित्व** और **विश्वव्यापी संवर्धन आंदोलन** की आवश्यकता है। विकास की अंधी-दौड़ मे गुम हो गयी बुनियादी मान्यताओं की ओर लौटने का समय अब भी है। भोगवादी पाशविकता से मुक्ति का श्रेष्ठ विकल्प श्रम का मानवीकरण होगा। आज अधिकांश प्रदूषण मानवकृत है। अनावश्यक भौतिक परजीविता इस समस्या की जड़ है। आर्नाल्ड टायनबी लिखते हैं कि—सभ्यताओं के पतन का कारण बाहरी आक्रमण नहीं, वरन् आंतरिक विघटन है।"[७] प्राकृतिक असंतुलन पर्यावरण की निर्मलता को नष्ट करके उसे अप्राकृतिक बना डालता है। यह कोई कम गंभीर बात नहीं है कि दुनिया का पर्यावरण-बजट उसके सैन्य-बजट के आधे से भी कम है। हाल ही में राजधानी मे सम्पन्न **पांचवें विश्व पर्यावरण कांग्रेस** में न्यायमूर्ति कुलदीपसिंह ने कहा भी है कि बजट का एक भाग प्रदूषण नियंत्रण के लिए आवटित किया जाना चाहिए। आज इस आंदोलन को पुनर्जागरण आंदोलन का रूप देने की जरूरत है। ५ जून को मनाये जाने वाले विश्व पर्यावरण दिवस का एक ध्येय इसी जनचेतना को जागृत करना है। एक सम्मिलित सोच इस संतुलन मे सहयोगी बन सकता है। टेक्नोस्फियर और बायोस्फियर मे तार्किक संतुलन हो और प्रकृति के संसाधनिक औपनिवेशीकरण पर प्रभावी रोक लगे, तभी औद्योगिक सभ्यता से प्रकृति का सही समीकरण बन सकेगा। अभाव कौशल और प्रबंध का है, जिससे छुटकारा पाने का समय तेजी से निकला जा रहा है। असंतुलन प्रकृति पर व्यक्तिगत अधिकार की प्रवृत्ति का ही प्रतिफल है, इसलिए साधनो का मितव्ययी उपयोग और उनकी संरक्षा का दायित्व दोनो ही बातें बराबरी से आवश्यक हैं। गुणात्मक लालसा के लिए प्रकृति के अव्यवस्थित संदोहन के परिणामस्वरूप ही आज वह नैसर्गिक संक्रम उल्टा हो गया है, जिसके अनुसार सृष्टि में संख्यात्मक रूप से वनस्पति के उपरांत मांसाहारी और फिर मनुष्य आते थे। प्रकृति में हमारे स्वार्थी दखल का यही नतीजा होना था।

एक पक्ष और है। किसी भी कार्रवाई के सभी संभावित नतीजे न देख पाना

जननीति का अंग नहीं है। जननीति से वंच-हित प्रभावित नहीं होने चाहिए और यदि होते हैं तो वह वर्गहित नीति कही जाएगी, जननीति नहीं। व्यक्ति की चिंता किए बिना पर्यावरण की चिंता करना तानाशाही होगी। व्यक्ति रहे, उसकी रोजी रहे और पर्यावरण भी रहे, यही सम्यक् दृष्टि है, क्योंकि आजीविका में कतरब्योत अनीति होगा। बिना सामाजिक न्यायसंगतता के पर्यावरण को टिकाऊ नहीं बनाया जा सकता है। जितना जरूरी पर्यावरण है, उतना ही जरूरी व्यक्ति भी है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि गरीब आदमी अपनी अनजानता और लाचारी मे पर्यावरण को नुकसान पहुंचाता है, जबकि बड़ा आदमी यही काम अपनी सामर्थ्य और समझ से करता है। इस मसले पर अपने नजरिये को निरापद बनाने के लिए इस पक्ष को विचार में लेना भी प्रासंगिक होगा।

पर्यावरण एक अंत:सबंधी विषय है, एक निरन्तर चलने वाली एकता है, अत: इस विषय पर हमारा खानापूरी वाला रवैया हमारे ही प्रयासों और प्रश्नों को भोंथरा बना डालेगा। वसुन्धरा विषकन्या भी है। प्रकृति रचती है, तो विनाश करना भी जानती है। यह एक चेतावनी है। अपने ही कार्यो के परिणामों के प्रति उदासीनता और अनभिज्ञता है अनर्थ होता है और यदि ऐसा हुआ तो यह धरती रौरव नर्क बन जाएगी और पर्यावरण लिजलिजा। इसलिए यह आवश्यक है कि पर्यावरण संबंधी कानूनों को केवल छलावा न बनाया जाए और न कोई इनमें छेद ही शेष रहने दिया जाये। वाशिंगटन के 'पर्यावरण कानून संस्थान' के अध्यक्ष विलियम फटॅल का कहना है कि —"राजनीतिज्ञ नागरिको के असतोष को गलत दिशा देने के लिए पर्यावरण के बारे में भ्रांतिया फैलाने की कोशिश करते है। उनके अनुसार पर्यावरण की हानि रोकने के लिए जनता का महज जानकार होना पर्याप्त नही है, उसे उद्वेलित भी होना पड़ेगा।"[८] राजनीतिक दलो को अपने अजेंडा में पर्यावरण को शामिल करना चाहिए, क्योंकि तभी प्रदूषण को चुनावी-मुद्दा बनाया जा सकेगा। अगर यह नही किया गया तो पर्यावरण और व्यक्ति दोनों की मृत्यु की आहटें तेज होती जाएंगी। माननीय उच्चतम न्यायालय ने न्यायिक-सक्रियता प्रदर्शित करते हुए जो कुछ फैसले इन दिनों दिए हैं, उनका भी इस दिशा में सकारात्मक और व्यापक असर होगा। एम. एन. बक ने लिखा है कि—"पर्यावरण प्रेमी यह नही कहते कि हम आदिम अव्यवस्था में पहुंच जाएं। केवल यह कहते हैं कि पर्यावरण प्रणाली में बाधा से विकास के लाभ ही समाप्त हो जाएंगे।"[९] इसलिए गुरुदेव टैगोर के शब्दों के—"जे माटी आंचल पेटे जेथ आछे मुखेर पाते', (उस माटी को पहचानने की जरूरत है, जो आंचल फैलाए ताक रही है)। सीधी-सी बात यह है कि समस्या को समझे बिना समाधान कतई बेअसर होगा।

संदर्भ

१. चातक डॉ० गोविन्द—पर्यावरण और संस्कृति का संकट— तक्षशिला प्रकाशन, नयी दिल्ली, १९९२, पृष्ठ ३४।

२. व्यास हरिश्चन्द्र तथा व्यास कैलाश चन्द्र—मानव और पर्यावरण, विद्या बिहार, नयी दिल्ली, १९९३, पृष्ठ २९।

३. पटवा शुभू—पर्यावरण की संस्कृति, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, १९९०, पृष्ठ २१।
४. व्यास हरिश्चन्द्र तथा व्यास कैलाश चन्द्र—मानव और पर्यावरण, विद्या विहार, नयी दिल्ली, १९९३, पृष्ट २९।
५. पटवा शुभू—पर्यावरण की संस्कृति, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, १९९०, पृष्ठ २०।
६. व्यास हरिश्चन्द्र तथा व्यास कैलाश चन्द्र—मानव और पर्यावरण, विद्या-विहार, नयी दिल्ली, पृष्ठ २९।
७. वही—पृष्ठ ३०।
८. जनसत्ता—दिनाक १०-२-९७।
९. बक एम. एन.—विकास और पर्यावरण, टाइम्स ऑफ इण्डिया: दिनांक ९-१२-८८।
१०. चन्दोला प्रेमचन्द—प्रदूषण-पृथ्वी का ग्रहण, हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली, १९९१।
११. बनवारी—पंचवटी, भारतीय पर्यावरण परम्परा, श्रीविनायक प्रकाशन, दिल्ली, १९९४।
१२. शुक्ल प्रयाग इस बढ़ते धुएं से कोई सुरक्षित नहीं, नवभारत टाइम्स, दिनांक १३-११-९६।
१३. राजकिशोर—मनुष्य की जगह पर्यावरण, जनसत्ता, दिनांक ७-१२-९६।
१४. पुरोहित सी. पी—ध्वनि प्रदूषण का बढ़ता खतरा, जनसत्ता, दिनांक १२-१२-९६।
१५. आनन्द श्याम—यूं ही नहीं कटते पेड़, नवभारत टाइम्स, दिनांक १३-१२-९६।
१६. डि मोटे डेरिल -उजड़ते हुए जंगलो के बीच, जनसत्ता, दिनांक १७-१२-९६।
१७. सिंह जगजीत—सुप्रीम कोर्ट और प्रदूषण का जिन्न, नवभारत टाइम्स, दिनांक २७-१२-९६।
१८. कोठारी आशीष—पर्यावरण के नाम पर, जनसत्ता, दिनांक १-१-९७।
१९. शर्मा योगेश्वर—धरती के पानी की धुंधली तस्वीर, नवभारत टाइम्स, दिनांक १५-१-९७।
२०. पारीक अरविन्द—गाड़ियों के धुएं से निजात कहां ?, जनसत्ता, दिनांक १-२-९७।
२१. मिश्र अवनीश कुमार—प्रदूषण की यातना झेलते गर्भस्थ शिशु, नवभारत टाइम्स, दिनांक १२-२-९७।
२२. गुप्ता पवन कुमार—विकास का डरावना इकहरापन, जनसत्ता, दिनांक १४-२-९७।

—डॉ० श्रीमती इन्दु पाण्डेय
स० प्राध्यापक (राजनीति विज्ञान)
शासकीय कन्या पीजी कॉलेज, सागर (म.प्र.)

आचारांग में प्रेक्षाध्यान के सूत्र

■ साध्वीश्री स्वस्तिका

साधना व्यक्ति की आध्यात्मिक उपलब्धि का विशुद्ध उपक्रम है जिसमें साधक अनासक्त भाव से संसार की यथार्थता पर अनुचिन्तन करता है और निर्वाण-प्राप्ति को लक्ष्य बनाता है। निर्वाण-प्राप्ति का क्रम प्रेक्षा से प्रारम्भ होता है। प्रेक्षा की यात्रा देखने से शुरू होती है। इसका ध्येय सूत्र है अपने द्वारा अपना दर्शन। दूसरे शब्दो में आत्मा द्वारा आत्मा की होने वाली विविध पर्यायों का दर्शन। चेतना का लक्षण है ज्ञान और दर्शन। जानना और देखना। **आचारांग** में निर्दिष्ट साधना पद्धति का मूल भी जानना देखना है। इसीलिए स्थान-स्थान पर **जाणह, पासह, दंसी, परमदसी, संपेहा, पेहमाणे, पडिलेहा**[1] आदि शब्दों का उपयोग किया गया है। राग व द्वेष की चेतना से परे हटकर देखना ही यहां काम्य है। **आचारांग** कहता है --**'से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स णत्थि ममाइयं'**[2] अर्थात् प्रेक्षा की साधना देखने की साधना है। विषयों को सम्यक् जानने व देखने वाला ही आत्मवित्, ज्ञानवित्, वेदवित्, ब्रह्मवित् होता है। विषयों की आसक्ति आत्मज्ञान में बाधक है। प्रेक्षा पद्धति इसके लिए कई पड़ावों की यात्रा स्वीकार करती है। **आयारो** मे इन बिंदुओं का कहां तक समावेश है, यही प्रस्तुत प्रसग में विवेच्य है।

१. कायोत्सर्ग

यह साधना पद्धति का आधार स्तम्भ है क्योंकि काय की स्थिरता सधे बिना मन व वाणी की साधना असंभव है। भगवान् महावीर ने काय-स्थिरता की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है—**काय गुत्तियाए जीवे संवरणं जणयई।**[3] कायोत्सर्ग अध्यात्म विकास की प्रथम भूमिका है। आचारांग कहता है—कायोत्सर्ग करने वाला ही धर्म के मर्म को जानता है तथा ऋजु होता है—**'नरा मुयच्चा धम्म विउत्ति अंजु'**[4] यहा मुयच्चा का अर्थ शवासन या कायोत्सर्ग से है। कायोत्सर्ग मे साधक अन्यथा व्यवहार करता है—**'अण्णहाणं पासए परिहरेज्जा।'**[5] कायोत्सर्ग की साधना से व्यक्ति शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक समस्याओं से मुक्त होता हुआ जीवन को सार्थक बना लेता है।

२. अन्तर्यात्रा

ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण व अन्तर्मुखता के विकास के लिए अन्तर्यात्रा सशक्त आलम्बन बनती है। इसमें चित्त को शक्ति केंद्र से ज्ञान केंद्र तक ले जाते हैं। इसे

केंद्रीय संस्थान कह सकते हैं। अंतर्यात्रा की आवृत्ति करने से नाड़ी तंत्र की प्राणशक्ति विकसित हो जाती है। प्रेक्षा की यह अंतर्यात्रा आचारांग में **'पणया वीरा महावीहिं'**[६] सूत्र में है। महापथ का अर्थ है—कुण्डलिनी व प्राणधारा। ममत्व ग्रंथि का छेदन करने वाला साधक ही इस पथ की यात्रा कर सकता है। यह एक संतुलित व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया है। ब्रेन व रीढ़ की हड्डी में ग्रे व ह्वाइट मेटर होता है। जब दोनों संतुलित रहते हैं। तब अंतर्यात्रा के माध्यम से संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है।

३. श्वास प्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान के साधक के लिए एक पुष्ट आलम्बन बनता है श्वास। दीर्घकालिक अभ्यास के द्वारा श्वास की दर कम करने से समता, अप्रमाद, एकाग्रता व जागरूकता जैसे गुण प्रस्फुटित होते हैं।

आचारांग ऋषि कहता है—

(i) **धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए;**

(ii) **लाभोत्ति न मज्जेज्जा अलाभो त्ति ण सोयए;**

(iii) **पमाइ पुणरेइ गब्भं।**[७]

हमारे फेफडे ६-७ लीटर हवा भरने में सक्षम है किंतु हम उस क्षमता का पूरा उपयोग नही कर पाते हैं। अगर हम श्वसन तंत्र का उपयोग सही ढंग से करते रहे तो हमारे भीतर अप्रमाद, समता आदि गुण विचरण करते हुए दिखाई देंगे।

४. शरीर प्रेक्षा

शरीर प्रेक्षा का अर्थ है—प्रियता-अप्रियता मे ऊपर उठकर वर्तमान क्षण को देखना।

आयारो में शरीर के समस्त अंगों को देखने का निर्देश मिलता है—

आयत चक्खू लोग विपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ उड्ढं भागं जाणइ तिरियं भागं जाणइ।[८] चैतन्य की अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से होती है। शरीर की विपश्यना करने वाला शरीर के भीतर पहुंचकर धातुओ को देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों को भी देखता है।[९] शरीर प्रेक्षा मे प्राणशक्ति का संतुलन होता है। बहुत बार वैज्ञानिक उपकरण द्वारा परीक्षण करने पर लगता है कि कोई बीमारी नही है। व्यक्ति फिर भी स्वस्थ महसूस नहीं करता। इसका कारण होता है—प्राण का असंतुलन। शरीर प्रेक्षा द्वारा इस दिशा में गति करके शरीर को स्वस्थ बनाया जा सकता है।

५. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा

चैतन्य केन्द्र शरीर के वे भाग हैं जहां चेतना घनीभूत होकर रहती है। योग की भाषा में ये योगचक्र हैं। ये केन्द्र अन्तःस्रावी ग्रंथियों के स्थान हैं। चैतन्य केंद्रों का वर्णन नंदी में अवधिज्ञान के प्रसंग मे मिलता है। आचार्य मल्लिसेन ने इसके लिए मर्म शब्द का प्रयोग किया है।[१०] चैतन्य केंद्रों पर ध्यान करने से अतीन्द्रिय चेतना का

आचरण होता है ।

आचारांग में इन केंद्रों को संधिस्थल की अभिधा से अभिहित किया है :—

(i) संधि विदित्ता इह मच्चिएहिं । २।१२७

(ii) संधि लोगस्स जाणित्ता । ३।५१

(iii) एत्थोवरए तं झोसमाणे अयं संधीति अदक्खु । ५।२०

(iv) संधि समुप्पेहमाणस्स एगायतणं रयस्स । ५।३०

(v) संधि विदित्ता इह मच्चिएहिं । २।१२७

अयं खणेत्ति मन्नेसि"—प्रस्तुत प्रसंग में क्षण का एक अर्थ है—वर्तमान क्षण की प्रेक्षा तो दूसरा अर्थ है—संधि स्थलों की प्रेक्षा । चैतन्य केंद्रों की प्रेक्षा से ग्रंथि तंत्र संतुलित होने से भय, आवेश, आवेग की समाप्ति व आनन्द, स्फूर्ति एवं उल्लास की संप्राप्ति होती है ।

६. लेश्याध्यान

चेतना की भावधारा को लेश्या कहते हैं । लेश्या का एक अन्य अर्थ है—पौद्गलिक पर्यावरण । लेश्या तंत्र रंगों के आधार पर बनता है । रंग जीवन को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं । लेश्या, आत्म परिणाम या रंग किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व की सूचना देने में समर्थ हैं । बाहर के रंग हमारे आंतरिक जीवन को प्रभावित करते हैं और आंतरिक जीवन में रंगों का प्रभाव हमारे व्यवहार में उभरकर आता है । भीतर के रंगों का प्रभाव बाहर होगा । बाहर का प्रभाव भीतर होता है । प्रत्येक कोशिका के रंग के आधार पर उसके गुणों का अवधारण किया जा सकता है । जीन्स का सारा सिद्धांत इसी की व्याख्या है जो—'जहा अन्तो तहा बाहीं जहा बाही तहा अन्तो ।'"—इस सूक्त में हजारों वर्ष पहले ही कह दिया गया ।

७. भावना

पुनः पुनः चिन्तन से चित्त को भावित करना भावना है । भावना के माध्यम से व्यक्ति चाहे जैसा बन सकता है । अप्रशस्त विचारों का अनुचरण प्रतिपक्षी भावना के द्वारा बदला जा सकता है । आचारांग में प्रतिपक्षी भावना के सूक्त हैं—

'लोभं अलोभेन दुगुंछमाणे । विगिंचकोहं अविकंपमाणे इमं निरुद्धाउयं संपेहाए ।'"

दसवै० में इसी को पुष्ट करने वाली गाथा है—उवसमेण हणे कोहं ।

मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है । इसके अनेक भेद हैं । एकत्वानुप्रेक्षा—अकेलेपन का अनुभव । आचारांग का यह सूक्त—एगो अहमंसि मे अत्थि कोई ण याहमवि कस्सइ एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणे ।" और अनित्यानुप्रेक्षा—संयोग की अनित्यता का अनुभव । से पुव्वं पेयं पच्छा पेयं 'भेउर धम्मं विद्धंसण धम्मं' अधुवं अणितियं असासयं चयावचइय विपरिणाम धम्मं पासह एय रूवे ।" यह अनुभव ही शरीर व पदार्थों के प्रति आसक्ति को दूर करता है तथा अशरण अनुप्रेक्षा—अत्राणता का अनुभव । नालं ते तव ताणाए व सरणाए वा तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा ।" इसी प्रकार संसार अनुप्रेक्षा । संसार के भव भ्रमण की अनुप्रेक्षा । भगवान् ने शाश्वत चिंतन दिया—से असइं उच्चागोए, असइं

जीया गाए।[१७] इसी तरह बारह भावनाओं का आयारो में उल्लेख मिलता है

८. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

वर्तमान क्षण की प्रेक्षा करने वाला साधक अतीत की स्मृतियों व भविष्य की कल्पनाओं में नहीं उलझता। जो वर्तमान क्षण में जीता है वही भावक्रिया पूर्ण जीवन जी सकता है। णातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं अट्ठं नियच्छन्ति तहागया उ।[१८] भगवान् ने कहा—'खणं जाणाहि पंडिए' साधक ! वर्तमान क्षण की प्रेक्षा करो। क्योंकि इससे कर्म शरीर का शोषण हो जाता है। विधूतकप्पे एयाणुपस्सी निज्झोसइत्ता खवगे महेसी। एयानुपस्सी का एक अर्थ होता है—वर्तमान में घटित होने वाले यथार्थ को देखना। जो वर्तमान को देखता है वह अप्रमत्त होता है। इसलिए आचारांग कहता है—जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणे ति मन्नेसि।[१९]

सारांश में जानना, देखना जीवन की सबसे बड़ी कला है। जिसे ज्ञाता द्रष्टा भाव उपलब्ध हो जाता है, उसे आनन्द का स्रोत उपलब्ध हो जाता है। परिस्थिति से अप्रभावित मनोभूमि का निर्माण ही इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। कहा भी है—

> प्रलय पवन संचालित शीत भी जहां चक्रमण नहीं कर पाता,
> प्रखर पवन प्रेरित ज्वालाकुल प्रज्वल हुतवह नहीं सताता।
> पूर्ण लोकचारी कोलाहल जहां नहीं बाधा पहुंचाता,
> ध्यान कोष्ठ में उस संरक्षित देवी का मैं हूं उद्गाता॥

इस प्रकार आचारांग में स्थान-स्थान पर प्रेक्षाध्यान के महत्त्वपूर्ण सूत्र बिखरे हुए हैं।

□

सन्दर्भ :

१. आयारो ६।५, ६।११८, ५,११८, २।११, २।१३८, २।१७३, २।१३१, ३।५४
२. ,, २।१५७
३. ,, ३।४
४. ,, ४।२८
५. ,, २।११८
६. ,, १।३७
७. ,, १.११; २.११४,११५; ३.१४
८. ,, २।१२५
९. ,, २।१३०
१०. बहुभिरारम प्रदेशैरधिष्ठिता देहावयव मर्मः (स्याद्वाद मंजरी)
११. " ५।२१
१२. " २।१२९
१३. " ३।३६, ४।३४
१४. " ८।३७
१५. " २।९६
१६. " २।२८
१७. " ५।४९
१८. " ३।६०
१९. " ५।२१

—(साध्वीश्री स्वस्तिकाजी)
द्वारा/वृद्ध साध्वी सेवा केन्द्र
लाडनूं

प्राणायाम : एक आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण

□ दीपिका कोठारी

□ रामजी मीणा

मनुष्य का शरीर प्रकृति की महानतम अभिव्यक्ति है। इस शरीर में एक ऐसी चेतना अवस्थित है जो अपने बारे में तथा प्रकृति एवं ब्रह्माण्ड के बारे में जानना चाहती है और जब कुछ जान पाती है तो आनन्दित होती है। परन्तु इस अदभुत संयोग का आधारभूत सत्य यह है कि यहां एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नही। चेतना नहीं तो शरीर नहीं। शरीर नहीं तो चेतना को भी चिह्नित करना असभव है। इतना ही नहीं एक का मामूली सा विकार भी चेतना को प्रभावित करता है। ठीक इसके विपरीत यदि हमारी मानमिक स्थिति लगातार तनावग्रस्त है तो शारीरिक स्वास्थ्य भो बिगड़े बिना नही रह सकता।

इसी तरह "स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ आत्मा निवास करती है" के अनुसार हमारा चित्त भी स्वस्थ शरीर में ही प्रसन्न रहेगा। वास्तव में यह कहावत अपने उल्टे क्रम में भी उतनी ही सच है। तभी तो अक्सर देखने में आता है कि स्वस्थ, सकारात्मक मंगलमय चिंतन करने वाली, मस्त एवं अल्हड़ प्रकृति की आत्माओं का शरीर भी स्वस्थ होता है। सार यह है कि दोनों में परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। पूर्ण शारीरिक स्वास्थ्य एव मानसिक प्रसन्नता की प्राप्ति का प्रयत्न कौन नहीं करता होगा, परन्तु अक्सर या तो हम शरीर से विकारग्रस्त रहते हैं या मन से तनावग्रस्त। पूरे जीवनकाल का वह हिस्सा थोड़ा सा होता है जब दोनों में समन्वय एवं संतुलन रहता है। मेडिकल साइंस ने शरीरिक रहस्यों को काफी गहराई से समझा है और उसके बल पर कई घातक व्याधियों एवं विकारों का उपचार संभव हो सका है। इसी तरह आधुनिक मनोविज्ञान ने मन का व्यवस्थित एवं व्यापक अध्ययन किया है। इससे मानसिक बीमारियों व विकृतियों का इलाज ही संभव नहीं हुआ, शरीर व मन के बीच सम्बन्धों की कई महत्वपूर्ण कड़ियों का भी पता चला है। परन्तु जहां आयुर्विज्ञान ने अपना अब तक का अधिकांश प्रयास केवल शरीर के उपचारात्मक पहलू पर ही अधिक केन्द्रित रखा है तथा स्वास्थ्य के निरोग एवं उन्नायक पहलू उपेक्षित रहे हैं, वहीं मनोविज्ञान की सीमा केवल स्थूल मन के आवेगों, संवेगों के अध्ययन से अधिक आगे नहीं बढ़ सकी है।

यद्दपि अलग ढग से परन्तु महत्वपूर्ण कोणों से प्रचीन भारतीय ऋषि मुनियों ने भी शरीर-चेतना सम्बन्धों को, बहुत गहराई से देखा और समझा था। इनमें साम्य एवं इनके

विकास के लिए उन्होंने जो प्रयास किए उससे वे एक आदर्श जीवन पद्धति एवं जीवन दर्शन के निर्धारण में सफल हुए थे। उस जीवन दर्शन के कई तथ्य आधुनिक विज्ञान के पूरक से जान पड़ते हैं। वे सब निश्चय ही हमारी अनमोल विरासत है। इस विरासत का सर्वोत्तम सदुपयोग इसमें आधुनिक विज्ञान ढूंढने में नहीं बल्कि इसको आधुनिक विज्ञान का पूरक बना लेने में ही है और यह प्रयास कुछ क्षेत्रों में सफल भी रहा है। इस दृष्टि से जो चीज आज विश्व में बहुत लोकप्रिय है एवं मानवता की महती सेवा कर रही है वह योग। स्पष्टतः हम यहा पातंजलि मुनि के अष्टांग योग की ही बात कर रहे हैं। योग के आठ अंगों में से भी हम यहां सिर्फ उस अंग पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करने जा रहे हैं जो शरीर व चेतना के बीच सम्बन्धों की कुंजी है। वह है प्राणायाम।

प्राणायाम शब्द का तात्पर्य प्राण पर नियंत्रण से है। प्राण शब्द का वास्तविक अर्थ बहुत व्यापक एवं गहन है। संक्षेप में अपने शरीर में इसकी महत्ता के लिए इतना सा जान लेना उपयुक्त होगा कि शरीर की सम्पूर्ण क्रियाएं प्राण से ही सम्पन्न होती हैं। ऐसा भी माना गया है कि प्राण ही शरीर में चेतना के टिके रहने का आधार है। प्राण निकलते ही शरीर से चेतना लुप्त हो जाती है। यह मृत मान लिया जाता है। इसलिए प्राण निकलना लोक में मृत्यु का पर्याय है। प्राण को केवल प्राणायाम की साधना से ही वास्तविक रूप से जाना सकता है। प्राण पर नियंत्रण प्राप्त कर एक तरफ तो साधक चेतना की उच्च स्थितियों में पहुंच कर आत्मसाक्षात्कार का लाभ उठा सकता है, दूसरी ओर शरीर को स्वस्थ, निर्मल व दीर्घायु रख सकता है। इन सबकी यद्यपि पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या तो संभव नहीं परन्तु यदि प्राण के अत्यन्त स्थूल रूप श्वसन को समझा जाए तो बात काफी स्पष्ट होने लगती है।

श्वसन पर आधुनिक विज्ञान का अध्ययन भी उपलब्ध है तथा योग के अनुसार श्वसन व प्राण में प्रत्यक्ष सम्बंध भी है। जिस प्रकार इन्द्रियातीत ईश्वर को समझने के लिए धर्म में मूर्तियों का सहारा लिया जाता है उसी प्रकार प्राण को समझने के लिए योग में श्वसन का सहारा लिया जाता है। श्वसन प्राण की मूर्ति है। यह मूर्ति प्रत्यक्ष फल प्रदान करने वाली है। पूर्ण शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा तो एक बात है, यदि जीवन में ओज, बल एवं बुद्धि का विकास करना हो तो इस मूर्ति की इतनी सी उपासना काफी मददगार साबित हो सकती है कि हम सही श्वास लें। हो सकता है बहुतों को यह बात चौंकाने वाली लगे। भला श्वास में भी कुछ सही गलत का चक्कर हो सकता है? वास्तव में अधिकांश प्राणियों की तरह मनुष्य का श्वसन एक स्वतः सम्पन्न प्रक्रिया है। उसे खाने पीने की तरह इसके लिए कोई विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है इसलिए नैसर्गिक रूप से संचालित इस प्रक्रिया में जब व्यक्ति का स्वयं दखल है ही नहीं तो गलत श्वसन की आदत का प्रश्न ही कहां से उठता है?

परन्तु मनुष्य को यह नहीं भूलना चाहिए कि उसका जीवन अब प्राकृतिक नहीं रह गया है। हजारों वर्षों से सभ्यता ने श्वसन की स्वाभाविकता में जबरदस्त दखल किया है। चाहे कृषि हो या उद्योग, कारीगरी हो या दस्तकारी अथवा आराम हो या अध्ययन इन सभी के कारण मनुष्य में चलने, खड़े रहने तथा बैठने की ऐसी आदतों का विकास

हुआ है जिससे स्वाभाविक श्वसन प्रक्रिया में बाधा पहुंची है। परिणामस्वरूप जहां बचपन में सभी लोग सही हैं वहीं बड़े होते होते अधिकांश की श्वसन प्रकिया विकृत एवं संकुचित हो जाती है। विकृत श्वसन जहां शरीर के अन्य अवयवों की कार्य प्रणाली पर नकारात्मक प्रभाव डालता है वहीं संकुचित श्वसन से शरीर की ऊर्जा ग्रहण क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

श्वसनतन्त्र एवं उसकी कार्यप्रणाली

मोटे तौर पर श्वसन तन्त्र के मुख्य अंग नासिका, श्वासनली तथा फेफड़े हैं। वायु का प्रवेश नासिका द्वारा से होता है। नासिका में स्थित बाल एवं नमी, धूलकण, रोग कीटाणु आदि को अन्दर जाने से रोकते हैं। नासिका गुहा में ही वायु को शरीर के अनुकूल नमी व ताप भी मिल जाते हैं। कण्ठ से गुजरकर वायु श्वासनली में प्रवेश करती है। १२ से १४ सेमी लम्बी श्वासनली अंत में दाएं बाएं दो भागों में विभक्त हो जाती है और दोनों फेफड़ों में खुलती है।फेफड़ों के अन्दर प्रवेश करने के बाद भी ये दोनों नलियां अनेक छोटी छोटी श्वासनलियों में विभक्त होती चली जाती है। वृक्ष की शाखाओं की तरह लगभग १५ बार प्रशाखित होने तथा सूक्ष्मदर्शी आकार ग्रहण करने के बाद ये अत्यन्त सूक्ष्म वायु कोशों में खुलती हैं। फेफडे वास्तव में ऐसे करोडों वायु कोशों से बने है। इन कोशों के चारों ओर महीन रक्त कोशिकाओं का जाल बिछा रहता है।

इन केशिकाओं में शरीर से जो रक्त आता है उसके गैसीय मिश्रण में कार्बनडायऑक्साइड सी ओ' का आधिक्त व ऑक्सीजन ओ' की कमी होती है। यह असंतुलन शरीर की कोशिकाओं में ऊर्जा उत्पादन का परिणाम होता है। इस असंतुलन से रक्त-कोशिकाओं में इन गैसों के दाब तथा वायु कोशों में आई इन गैसों के दाब में अन्तर आ जाता है। इस दाबान्तर के कारण, वायुकोशों की सूक्ष्म झिल्ली के आरपार, वायु से रक्त में ऑक्सीजन तथा रक्त से वायु में कार्बनडायऑक्साइड का विसरण हो जाता है। इसके उपरान्त कार्बनडायऑक्सइड आधिक्य वाली वायुकोशों की वायु, प्रश्वास के दौरान नासिका से बाहर निकल जाती है तो दूसरी ओर यहां से ऑक्सीकृत रक्त ऑक्सीजन लेकर शरीर की प्रत्येक कोशिकाओं तक पहुंचता है। कोशिका में यह ऑक्सीजन भोजन के अवयवों जैसे कार्बोहाइड्रेट, वसा आदि के साथ क्रिया कर ऊर्जा उत्पन्न करती है। इस क्रिया में कार्बनडायऑक्साइड बनती है जो रक्त में घुलकर उसके साथ पुनः फेफड़ों में पहुंचकर उपरोक्त रीति से नासाछिद्रों द्वारा शरीर से बाहर निकल जाती है। सार यह है कि श्वसन का मुख्य कार्य ऑक्सीजन का लेना व कार्बनडाय ऑक्साइड का छोड़ना है। श्वसन से प्राप्त ऑक्सीजन उस ऊर्जा के उत्पादन की अपरिहार्य आवश्यकता है जिसके बिना हमारे शरीर का कोई भी अंग कार्य कर ही नहीं सकता चाहे वह मस्तिष्क की मानसिक चेतना ही क्यों न हो क्योंकि विचार मात्र के लिए भी ऊर्जा तो चाहिए ही , इसलिए कहा गया है—"श्वशन ही जीवन हैं।"

इस तरह यदि हम श्वसन क्रिया के विस्तृत अध्ययन में उतरें तो पाएंगे कि श्वसन सिर्फ एक शारीरिक प्रक्रिया ही नहीं, एक जैव-रसायन प्रणाली तथा एक ऊर्जा तंत्र भी है जो हमारी भावनात्मक स्थिति विशेष की अभिव्यक्ति का माध्यम भी

बनता है। हंसना, रोना, सुबकना, चिल्लाना, उबासी एवं उच्छ्वास आदि मनोभाव श्वसन के सहारे के बिना मूर्त नहीं हो सकते। इससे भी बढ़कर महत्वपूर्ण बात यह है कि निराशा, भय, क्रोध, तनाव आदि मानसिक उद्वेग श्वसन को सीधे प्रभावित करते हैं। इसके विपरीत यदि हम श्वसन को नियंत्रित करना सीख लें तो इन उद्वेगों पर भी सफलतापूर्वक नियंत्रण पाया जा सकता है।

इस प्रकार श्वसन एक अनैच्छिक क्रिया है जो स्वतः सम्पन्न होती रहती है परन्तु इस क्रिया कि सबसे बड़ी खूबी यह है कि यह एक ऐच्छिक क्रिया भी है। इसे हम अपनी इच्छानुसार तीव्र, मन्द, बन्द, दीर्घ, लघु भी कर सकते हैं। इसको समझने के लिए हमें फेफड़ों की कार्यप्रणाली को समझना जरुरी है। वास्तव में यह अत्यन्त मनोरंजक लग सकता है कि हृदय की तरह स्वयं क्रियाशील न होते हुए भी ये निष्क्रिय फेफड़े कैसे अपने आप हवा से भर जाते हैं और कैसे खाली हो जाते हैं। इनके संचालन में सर्वाधिक मददगार है डायफ्राम। डायफ्राम एक प्रत्यास्थ गुम्बदाकार मांसपेशी है। जिसे छाती व पेट के बीच की चलित विभाजन रेखा कह सकते है। दायीं तरफ यह यकृत पर एवं बाईं ओर पेट, प्लीहा तथा बायें गुर्दे पर स्थिर रहता है। डायफ्राम का संचालन मस्तिष्क के निम्न भाग मेड्यूला से होता है। मेड्यूला में उन अलग अलग दोनों क्षेत्रों का पता लगाया गया है जहां से श्वास लेने और छोड़ने अर्थात् श्वास और प्रश्वास के लिए संकेत या स्पन्दन नाड़ी तन्त्र के माध्यम से मिलते है। वास्तव में सामान्यतः मस्तिष्क ही अपने आप, रक्त में ऑक्सीजन की आवश्यकता के अनुसार, इस क्रिया को संचालित करता है।

जब श्वास लेना होता है तो मस्तिष्क से डायफ्राम व छाती गुहा की अन्य सहायक मासपेशियों को स्पन्दन प्राप्त होते हैं। इससे डायफ्राम संकुचित हो जाता है। तथा उसका गुम्बद छोटा अर्थात नीचा हो जाता है। इससे तथा दूसरी मांसपेशियों की क्रिया से बन्द छातीगुहा का आयतन बढ़ जाता है और उसमें आंशिक निर्वात उत्पन्न हो जाता है। यदि इस समय ऊपरी श्वसन अंग खुले हों तो हवा इस निर्वात को खत्म करने के लिए फेफड़ों के वायुकोशों में दौड़ पड़ेगी। इन प्रकार फेफड़े फूलकर ताजा हवा से भर जाएंगे।

डायफ्राम को संकोच के लिए मेड्यूला से लगभग दो सैकिण्ड के लिए स्पन्दन मिलते हैं। इसके बाद लगभग ३ सैकिण्ड तक के लिए मेड्यूला का यह क्षेत्र निष्क्रिय हो जाता है और डायफ्राम व छाती की अन्य मांसपेशियां अपनी प्रत्यास्थता के कारण पूर्व स्थिति में आने लगती है।

डायफ्राम के ऊपर उठने पर छातीगुहा का आयतन कम हो जाता है जिससे फेफड़ों के चारों ओर दाब आधिक्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे फेफड़ों के अन्दर की वायु का दाब बाहर की वायु के दाब से अधिक हो जाता है। परिणामस्वरूप फेफड़े सिकुड़ जाते हैं और उनकी हवा बाहर निकल जाती है। सार यह है कि डायफ्राम के सिकुड़ने से उत्पन्न निर्वात के कारण श्वास की तथा उसके पूर्व स्थिति में लौटने से बढ़े दाब आधिक्य के कारण प्रश्वास की क्रिया सम्पन्न होती है।

सामान्य शांत श्वसन में हम एक बार में लगभग ५०० मि ली. अर्थात् आधा लीटर हवा लेते हैं और इतनी ही छोड़ते है परन्तु वायुकोशों तक लगभग ३५० मिली. वायु ही पहुंच पाती है बाकी ऊपर के श्वसन अंगों में ही रह जाती है। चूंकि एक मिनट में हम लगभग १२ बार श्वसन करते हैं अत: प्रति मिनट लगभग ६००० मि. ली. वायु का आदान प्रदान होता है।

यदि बहुत गहरा लम्बा श्वास लें तो एक बार में लगभग ३६०० मि. ली. अर्थात् ६-७ गुना वायु को भरा जा सकता है। यदि प्रश्वास बलपूर्वक किया जाए तो और भी अधिक वायु को अन्दर खींचा जा सकता है। परतु बलपूर्वक किए गए प्रश्वास से फेफड़ों व अन्य अंगों पर कार्यभार बढ़ जाता है एवं इसके लिए अधिक ऊर्जा की आवश्यकता भी होती है।

जो श्वसन तंत्र हमें प्रकृति ने दिया है उसकी कार्य कुशलता एवं दक्षता दो कारणों से घटी हुई है। एक गुरुत्व बल एव दूसरा पृष्ठ तनाव। गुरुत्व बल के कारण रक्त का संचरण फेफड़े के निचले भागो में अधिक होता है जबकि वायु का आदान प्रदान ऊपरी हिस्सों में अधिक होता है। दूसरे, वायुकोशों के अन्दर विद्यमान एक विशेष द्रव के के पृष्ठ तनाव के कारण प्रश्वास के समय वे पूरी तरह पिचक नहीं पाते। इससे पूरी पुरानी हवा बाहर निकलकर पूरी नई हवा प्रवेश नहीं कर पाती है।

प्राणायाम इन दोनों समस्याओं का उपयुक्त समाधान देता है। अर्थात् एक तो फेफड़ों पर अतिरिक्त कार्यभार डाले बिना संतुलित मात्रा में ऑक्सीजन की पूर्ति एवं ऊर्जा संरक्षण तथा दूसरे, श्वसन तंत्र की कुल कार्य कुशलता एवं दक्षता में वृद्धि। इसका कारण यह है कि प्राणायाम के अभ्यास से एक तो प्रति मिनट श्वसन दर में कमी आ जाती है। जहा समान्यत: हम १२ बार श्वास लेते हैं वहीं अभ्यास के बाद यह संख्या आधी से भी कम हो जाती है। दूसरे श्वास गहरा और लम्बा हो जाने के कारण एक बार में ही अधिक वायु का आदान-प्रदान होता है। सही श्वसन का अभ्यास व व्यायाम की कमी के अलावा श्वसन की कुछ गलत आदतें भी हैं जो श्वसन तन्त्र की क्षमता को बुरी तरह प्रभाविन करती है।

श्वसन को सामान्य आदतें

हमारे समाज में सामान्यत: श्वसन की कुल तीन आदतें पाई जाती हैं। प्रथम "डायफ्रामेटिक श्वसन" के नाम से जानी जाती है। इसकी पहचान यह है कि श्वास लेते समय तो डायफ्राम के नीचे जाने से पेट आगे की ओर फलना चाहिए तथा प्रश्वास के समय इसका उल्टा होने से पेट सिकुडना चाहिए। इसमें फेफड़ों का फैलाव निचले गुरुत्व-निर्भर क्षेत्रों में ही अधिक होता है। इससे ऑक्सीजन की आदान-प्रदान की क्रिया अधिक कुशलता के साथ सम्पन्न होती है। अत यह श्वसन की सबसे दक्ष विधि मानी जाती है। बच्चे केवल इसी प्रकार से श्वास लेते हैं क्योंकि उनमें डायफाम के अलावा अन्य मांस पेशियों का विकास बाद में होता है।

इस आदत का एक अन्य शारीरिक स्वास्थ्य लाभ भी है। इसमें डायफाम की गति के कारण यकृत, गुर्दे, प्लीहा, पित्ताशय एवं बड़ी आंत को, प्रत्येक श्वास के साथ, एक

लयबद्ध उद्दीपन प्राप्त होता है जो इन अंगों की सामान्य कार्यप्रणाली के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वैसे यह श्वसन विधि कई प्रकार की मानसिक असामान्यताओं को दूर करने का एक चिकित्सकीय औजार बन चुकी है। आमतौर पर हाईपरटेन्शन से मुक्ति के लिए इसको शव-आसन के साथ अवश्य किया जाता है। आज ध्यान की कई ऐसी चिकित्सकीय विधियां प्रचलित हैं जिनमें यह प्रथम सीढ़ी है।

श्वसन की दूसरी आदत में पेट नहीं के बराबर हिलता है। श्वास लेते समय छाती फूलती है एवं छोड़ते समय सिकुड़ती है। इस प्रक्रिया में मुख्य भूमिका डायफ्राम की न होकर छाती गुहा व स्कन्ध पेटी की आंतरिक मांसपेशियों की होती है। इसमें फेफड़ों का केवल क्षैतिज विस्तार होता है। इससे उनमें वायु का आदान-प्रदान केवल ऊपरी भागों में ही अधिक होता है। जबकि रक्त की अधिक मात्रा निम्न भागों में मौजूद होती है। अतः रक्त का ताजा हवा के साथ सम्पर्क बहुत कम हो पाता है। यह सबसे कम कुशल आदत मानी गई है।

चूंकि इस विधि में डायफ्राम का उपयोग नगण्य होता है अतः उसकी सामान्य प्रत्यास्थता कम हो जाती है। मनोविश्लेषकों का मत है कि भय, क्रोध एवं सैक्स जैसे मानसिक आवेग शरीर के डायफ्राम के नीचे वाले भागों से सशक्त रूप से सम्बद्ध हैं। डायफ्राम का कड़ापन वास्तव मे व्यक्ति को इन आवेगों से विलग कर देता है। इससे इन आवेगों के प्रति व्यक्ति की सामान्य चेतना कम हो जाती है जिससे ये अनियंत्रित एवं व्यक्ति पर हावी हो जाते हैं। इसके अलावा पेट को मिलने वाला उपरोक्त लयबद्ध उद्दीपन खत्म हो जाने से वहां कब्ज जैसी सामान्य गड़बड़ियां भी हो सकती हैं।

तीसरी श्वसन की आदत हमारे समाज में सर्वाधिक देखी गई है। आप देखेंगे कि अधिकांश व्यक्तियो में श्वास के समय छाती फूलती है परन्तु पेट सिकुड़ता है तथा प्रश्वास के समय छाती सिकुड़ती है एव पेट फलता है। इसके बारे में इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह वास्तव में अपनी ही प्राणवायु के विरुद्ध स्वयं की लड़ाई है। ऊपर से वायु का प्रवेश एवं नीचे से डायफ्राम की टक्कर। सबसे कम दक्ष एवं कई मानसिक व हृदय रोगों में बहुत मददगार है यह आदत।

सही श्वसन प्रक्रिया

अधिकांश व्यक्तियों में बाद वाली दोनों आदतों का आदि देखा जा सकता है। इनके सुधार के लिए तथा कई अन्य शारीरिक व मानसिक विकृतियों एवं व्याधियों से मुक्ति के लिए श्वसन सम्बन्धित उपचार, जो अधिकाश थेरापिस्ट्स सुझाते हैं उनका निचोड़ हम निम्न चार बातों में दे रहे हैं।

१. सर्वप्रथम तो हम सबको डायफ्रामिक श्वसन को अपनी सामान्य आदत बना लेना चाहिए। इससे हम फेफड़ों पर नियत्रण रखना सीख जाएंगे जो वास्तव में इस जीवन चक्र की धुरी है। इसके लिए लगभग १० दिन तक रोजाना आधे घंटे निम्न अभ्यास करने की आवश्यकता है। उसके उपरान्त यह सामान्य आदत बन जाती है।

अभ्यास:—समतल एवं शुद्ध, वायुयुक्त शांत स्थान पर दरी या चादर बिछाकर

पीठ के बल पर सीधे लेट जाइए। घुटनों को ऊपर की ओर मोड़कर आराम की स्थिति में ले आइए। दोनों हाथों को कोहनी तक भूमि पर टिकाते हुए एक हाथ को छाती पर व दूसरे को पेट पर रख लीजिए।

इस स्थिति में शरीर व मन को यथासंभव शिथिल एवं तनाव मुक्त करते हुए एक गहरा श्वास छोड़ दीजिए। वैसे ही जैसे हम हताशा के समय करते हैं। अब यह कल्पना करते हुए धीरे-धीरे श्वास अन्दर लीजिए कि हवा पेट व कमर गुहा (Pelvic cavity) में भर रही है। यदि ऐसा ठीक प्रकार से किया जाए तो छाती पर रखा हाथ स्थिर रहेगा एवं पेट पर रखा हाथ पेट के ऊपर उठने से ऊपर उठेगा। श्वास छोड़ते समय भी केवल पेट वाला हाथ ही नीचे की ओर जाएगा एवं छाती वाला हाथ लगातार स्थिर बना रहेगा। श्वसन गति शरीर की आवश्यकतानुसार व श्वास से प्रश्वास कुछ लम्बा रखना चाहिए। मन को श्वास पर ही कही भी केन्द्रित किया जा सकता है। इसमे शरीर शिथिल व दिमाग एक शांत प्रक्रिया पर केन्द्रित रहता है। यही कारण है कि इस क्रिया मे अक्सर लोगों को गहन शांति की अनुभूति एवं मानसिक तनाव से तत्काल मुक्ति मिलती है।

(२) श्वसन प्रक्रिया में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि श्वास-प्रश्वास के बीच अधिक विराम नही होना चाहिए। सामान्यत: पलक झपकने से अधिक समय का विराम कमजोर श्वसन तन्त्र की निशानी माना जाता है।

(३) तीसरी बात यह है कि श्वसन मे लयबद्धता होनी चाहिए। उसमें झटके या जर्क नही होने चाहिए। सामान्यतया मानसिक व भावनात्मक आघात के समय ही झटके अनुभव किए जाते हैं। परन्तु सामान्य जीवन में भी ऐसा है तो इसे शरीर व मन के उचित आराम में बाधक समझना चाहिए। लयबद्ध श्वसन को सोते हुए बच्चे के अवलोकन से आसानी से समझा जा सकता है।

(४) अन्त में, यह भी देखना चाहिए कि नाक मे या कहीं अन्यत्र आवाज तो नही हो रही है। श्वसन शांत एवं विक्षोभरहित होना चाहिए। इसमें श्वास के समय नासाग्र पर शीतलता तथा प्रश्वास के समय हल्की उष्णता की अनुभूति होगी। उपरोक्त चारों बाते हमारे श्वसन के ऐसे सरल एवं प्राकृतिक लक्षण है जो चौबीसों घंटे हमारी सामान्य आदत बन जानी चाहिए।

प्राणायाम वास्तव में अत्यन्त जटिल एवं सूक्ष्म प्रक्रिया है जिसे अत्यन्त सावधानी के साथ बिना किसी दक्ष एवं अनुभवी प्रशिक्षक की मदद के नही करना चाहिए। आध्यात्मिक उत्थान चाहने वालों के लिए प्राणायाम एक प्रमुख साधन है। पतंजलि मुनि ने इसे आत्मा के प्रकाश पर पड़े आवरण को क्षीण करने वाला बताया है। उनके योगसूत्र के अनुसार "**तत क्षीयते प्रकाशावरणम्**" इससे मन की धारणा एवं संकल्पशक्ति में वृद्धि होती है। मनुस्मृति भी कहती है कि प्राणायाम से शरीर व इन्द्रियों के विकार एवं मल वैसे ही दूर हो जाते हैं जैसे तपाने पर सोने के।

प्राचीन और अर्वाचीनकाल में प्राणायाम पर काफी अनुसंधान हुआ है। जिससे

इसकी क्रियाओं की काफी हद तक वैज्ञानिक व्याख्या संभव हो सकी है। परन्तु वास्तव में शरीर की कार्य प्रणाली इतनी जटिल व इतने सूक्ष्मस्तर पर भी सम्पन्न होती है कि उनका समग्र अवलोकन आसान कार्य नहीं है। हमारी सम्पूर्ण अन्त:चेतना के साथ इसके रिश्तों को ठीक-ठीक परिभाषित करना तो और भी कठिन कार्य है। प्राचीन ऋषियों ने चेतना के मूल में जाने के जो मार्ग खोजे थे वे निश्चय ही शरीर की जटिलता में उलझे बिना खोजे होंगे।

हम भी इन जटिलताओं से बचते हुए यही तर्क उपस्थित करना चाहेगें कि जिस प्रकार बिना दवा के सामान्य खानपान मे फेर बदल एवं उनकी प्रक्रियात्मक आदतों में सुधार से कुछ रोगों को ठीक करना एवं उनसे बचे रहना संभव है उसी प्रकार का कार्य श्वसन की कुछ खास विधियों की सहायता से भी किया जा सकता है। निश्चय ही इन्हें दवा का बिकल्प नहीं कहा जा सकता है। परन्तु इनके नियमित अभ्यास के जो दीर्घकालीन लाभ हैं वे दवा से कभी भी प्राप्त नहीं किए जा सकते। इन क्रियाओं का मूल मकसद केवल स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन ही नही बल्कि मन की सुप्त पडी शक्तियो का विकास भी है जो जीवन संघर्ष मे सफलता की अनिवार्य आवश्यकता है। ये धैर्य, उत्साह, सकल्प व इच्छा की शक्तियां हैं। शारीरिक स्वास्थ्य में इन क्रियाओं से मांसपेशियो की मजबूती मे वृद्धि उतनी नही होती जितनी कि शरीर के हल्केपन, चुस्ती-फुर्ती एव उनकी रोगप्रतिरोधकता मे वृद्धि होती है और यदि श्वसन में इतना सामर्थ्य है तो उसे शरीर व चेतना के बीच सेतु कहना अनुपयुक्त न होगा।

—डॉ. दीपिका कोठारी
परियोजना अधिकारी
जैविभा संस्थान, लाडनूं
एवं
श्री रामजी मीना
५०, प्रधानमार्ग, मालवीयनगर
जयपुर—१७

मध्य-युगीन जैन योग का क्रमिक विकास

■ भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

साधारण तौर पर सर्वत्र योग को परमात्म पद से जोड़ा गया है और फिर परमात्मा की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की गई है। चार्वाक् को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन योगवादी हैं और उनका योगवाद उनकी दार्शनिक भूमिका पर टिका हुआ है। इसलिए दार्शनिक क्षेत्र मे वे जिस प्रकार परस्पर प्रभावित हैं उसी तरह यौगिक क्षेत्र में भी उन्होने आपस मे आदान-प्रदान किया है।

मध्य-युगीन जैन योग परम्परा ऐसे ही आदान-प्रदान को रेखांकित करती है। उसे समझने के लिए उसकी पूर्ववर्ती परम्परा को समझना होगा। जैन योग परम्परा की उत्पत्ति और विकास का सम्बन्ध इतिहास की दृष्टि से जैनधर्म की उत्पत्ति और विकास की सीढियो से लगा हुआ है। इसे हम स्थूल रूप से चार युगो में विभाजित कर सकते हैं—१. आगम पूर्व युग, २. आगम युग, ३. मध्य युग और ४. आधुनिक युग। मध्ययुगीन जैन योग मध्ययुगीन दर्शन और भक्ति तन्त्र का केन्द्रीय तत्त्व है।

आगम पूर्व युगीन जैन योग परम्परा के आद्य व्याख्याकार तीर्थंकर आदिनाथ थे जिनका उल्लेख वैदिक और बौद्ध साहित्य मे बड़े सम्मान के साथ हुआ है। उन्हें हिरण्यगर्भ का भी अभिधान मिला था। शुभचन्द्र ने उन्हें यौगिक कल्पतरु कहकर नमस्कार किया है (१-२)। साख्य-योग परम्परा ने भी कदाचित् उसी से अपनी योग परम्परा का प्रवर्तन किया है **हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः**—सांख्य-योग दर्शन। मोहेनजुदाडो, हड़प्पा और लोहानीपुर से प्राप्त कायोत्सर्गी नग्न योगी मुद्राएं उन्ही की वीतरागी मुद्रा को संकेतित कर रही हैं। 'पूर्व' साहित्य का ज्ञानप्रवाद और आत्मप्रवाद सम्भवत. जैन योग परम्परा के आदि रूप को समाहित किए रहा होगा। दुर्भाग्य से आज वह हमारे समक्ष नही है।

आगम युग तीर्थंकर महावीर से शुरू होता है और लगभग पांचवी शताब्दी में आगम लिपिबद्ध हो जाते है और उनमें तब तक विकसित योग परम्परा भी प्रतिबिंबित हुई है। इस लम्बे पीरियड को भी हम अनेक परतों में बांट सकते हैं। सबसे पहली परत में, हम पालि-साहित्य मे पाते हैं जहां निगण्ठनातपुत्त और उनके अनुयायी मुनिवर्ग की कठोर तपस्या का वर्णन हुआ है। उनमें एक प्रसंग तो यह है कि महावीर मनोदण्ड को तो मानते ही हैं पर यदि उसके साथ कायदण्ड भी हो गया हो तो वह अपेक्षाकृत अधिक गहरा हो जाता है। कर्म के आश्रव और संवर में भाव की भूमिका काय से कहीं अधिक होती है (मज्झिम निकाय, उपालिसुत्त)। अंगुत्तरनिकाय के वप्पसुत्त में

भी इसी तरह निगण्ठनातपुत्त के अनुसार कर्मों का आश्रव और उसकी निर्जरा का सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है।

पालि साहित्य में आए ये उद्धरण जैन योग परम्परा की आगमिक परम्परा पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इनमें आए आश्रव और संवर शब्द योग के अप्रशस्त और प्रशस्त रूप की ओर संकेत करते हैं। यहा कायोत्सर्ग को भेदविज्ञान की प्राप्ति के लिए अच्छा साधन माना गया है। तीर्थंकर महावीर की तपस्या का वर्णन आगमों में आता है। वे शून्यघरों में, मन्दिरों आयतनों में, श्मसान भूमियों में, वृक्षो के नीचे ध्यानस्थ हो जाया करते थे और अप्रमत्त होकर कायस्थ मुद्रा में समस्त साधना किया करते थे। प्राचीनतम सूत्र आचारांग में उनकी साधना का समीचीन वर्णन है। प्रारम्भ में 'संवर' शब्द का प्रयोग हुआ और बाद में जोग (योग), झाण (ध्यान), समत्त (समत्व) आदि जैसे शब्दों का प्रयोग होने लगा। धर्मध्यान और शुक्लध्यान जैसे शब्दों का प्रयोग आचारांग में दिखाई नहीं देता। लगता है सूत्रकृतांग, समवायांग आदि आगमों तक आते-आते योग परम्परा व्यवस्थित होने लगी थी।

इस काल में सर्वज्ञत्व की कल्पना भी आ गई थी जिसका उल्लेख पालि साहित्य में भी है। अनेक प्रकार की लब्धियों का वर्णन भी हम प्राचीनतम आगमिक परम्परा में पाते हैं। आचार्य भद्रबाहु द्वारा नेपाल में की एई 'महाप्राण' ध्यान साधना (सर्व-संवर ध्यान योग साधना) भी इसी काल से सबद्ध है। यहां संवेग और निर्वेग में दृढ़ता को ही मुख्य मोक्षमार्ग माना है। समवायांग (सूत्र ३२), उत्तराध्ययन (२९.१-२) आदि सूत्रों में आई योग परम्परा निश्चित ही प्राचीन आगमिक परम्परा का ही विकसित रूप है।

आचारांग में आश्रव, संवर, निर्जरा, योग, ध्यान जैसे योगात्मक शब्दों का प्रयोग विरल ही हुआ है, जबकि पालि परम्परा के उपालि और वप्प आदि सुत्तों में प्रथम तीन शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। इससे ऐसा लगता है, मूल जैन परम्परा आत्म-वादी और कर्मवादी थी और कर्मों के आश्रव-बंध का संवर और निर्जरण कठोर तप के माध्यम से होता था। उत्तरकाल में पातञ्जल योग दर्शन के प्रभाव से झाण और जोग शब्दों का भी व्यवहार शुरू हो गया। सूत्रकृतांग मे इन दोनो शब्दों का प्रयोग अनेक वार हुआ है। भगवती काल में यह प्रयोग और अधिक लोकप्रिय हो गया। विपस्सी (आ. १.२.५.१२५) और पासग (वही १-२-३.७३; १-२-६.२२५) जैसे शब्दों का प्रयोग भी यहां उद्धरणीय है जो जैन-बौद्ध आगमो में समान रूप से व्यवहृत हुए हैं। सम्भव है, ये दोनों परम्पराएं रामपुत्त की ध्यान परम्परा से अवगत रही हैं जिनका उल्लेख सूत्रकृताग, ऋषिभाषित, दीघनिकाय आदि ग्रन्थों में हुआ है।

आ. पुष्पदन्त और भूतबली (लगभग प्रथम शताब्दी ई. पू.) द्वारा रचित षट्-खण्डागम यद्यपि विशुद्ध कर्मग्रंथ हैं पर यहां मार्गणा और गुणस्थान के प्रसंग में ध्यान और ध्यान के फल का वर्णन किया गया है। इसी परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, पूज्यपाद तथा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी जुड़े हुए हैं। यद्यपि इन आचार्यों के चिंतन में योग परम्परा का विकसित रूप दिखाई देता है पर वह उतना गहरा और

व्यवस्थित नहीं है। कुन्दकुन्द ने योग को स्पष्टतः आत्मदर्शन से संवलित किया यह कहकर कि स्वयं की भावना करते हुए निज-भाव में स्थित होना ही योग है—**जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो**—नियमसार १३९। इस योग में चंचल चित्त को बाह्य विषयों से हटाकर आत्मा का ध्यान किया जाता है [प्रवचनसार, २.१०४]। यही शुद्ध प्रतिक्रमण है [नियमसार, ५.८९-९२], आचार्य शिवार्य [२-३री शती] की भगवती आराधना का तप के अन्तर्गत किया गया ध्यान का वर्णन भी उल्लेखनीय है।

उमास्वामी ने योग साधना को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जोड़कर उसे त्रिगुप्ति साधना का माध्यम बनाया है। समूचा तत्त्वार्थसूत्र साधना की निष्पत्ति को समाहित किए हुए है। इसे हम आगमों का व्यवस्थित रूप कह सकते हैं। पूज्यपाद ने इसी को समाधितन्त्र और इष्टोपदेश में अभिव्यक्त किया है जो उन्होंने योग को परमात्मा से अभिसम्बन्धित किया है—**एक योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः**—[समाधितन्त्र १७-१८] और ध्यानाग्नि द्वारा कर्मेन्धन को जलाकर स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति को लक्ष्य बनाया है [वही, गाथा १०५]।

इन आचार्यों ने ध्यान को दर्शन और ज्ञान की समग्रता से जोडा है। उसी समग्रता मे निर्विकल्पावस्था आती है। ध्यान और योग की इन परिभाषाओं में कुछ विकास अवश्य दिखाई देता है पर कहीं उनमें मूल विरोध के स्वर सुनाई नहीं पड़ते।

आगमयुग से मध्ययुग में संक्रांत होने पर योग का विकास अधिक हुआ है। इस विकास को हम **हरिभद्र, शुभचन्द्र** और **हेमचन्द्र** के योग ग्रंथो में देख सकते हैं। इस काल में साधारणतः योग शब्द का समग्र रूप में प्रयोग हुआ है। शुभचन्द्र ने योग और ध्यान के स्थान पर ज्ञान शब्द का प्रयोग अधिक उचित समझा। यद्यपि पुष्पिका में उन्होंने 'योगप्रदीप' नाम दिया पर उसे 'ज्ञानार्णव' कहना उन्होने अधिक युक्तिसंगत समझा। इसके पीछे उन्होंने यह तर्क दिया कि उनका ग्रंथ अविद्या के कारण उत्पन्न दुराग्रह को दूर करने वाला होगा [श्लोक ११]। लगता है, आचार्य शुभचन्द्र को सर्वार्थसिद्धि का यह कथन प्रियकर लगा होगा जिसमें कहा गया है कि निश्चल अग्नि-शिखा के समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है—**ज्ञानमेवापरिस्पंदाग्नि शिखावदव-भासमानं ध्यानमिति** ८ २७। कुंदकुंद का **'णाणेण झाणसिद्धि'** पद भी ध्यातव्य है। हरिभद्र और हेमचंद्र ने तो 'योग' ग्रथ ही लिखे हैं। हरिभद्र ने आगमयुग के धर्मध्यान को योगबिंदु में अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता एवं वृत्तिसंक्षय इन पांच भागों में विभाजित किया और उन्हे गुणस्थानों के चौखटे में समाहित करने का प्रयत्न किया। समयसार के **णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा** [गा. १०] के आधार पर रामसेनाचार्य ने भी तत्त्वानुशासन [श्लोक ६८] में ज्ञान और आत्मा की अभिन्नता सिद्ध की है।

आचार्य जिनसेन ने यद्यपि पृथक—कोई योगग्रंथ नहीं लिखा पर उन्होंने अपने महापुराण [२१-१२] में योग, समाधि और चित्तवृत्ति निरोध की बात करते हुए आसन, प्राणायाम को भी यथोचित स्थान दिया है। इस सूत्र को कुछ और आगे बढ़ाया आचार्य शुभचंद्र के जिन्होंने 'ज्ञानार्णव' में योग या ध्यान को पिण्डस्थ, पदस्थ,

रूपस्थ और रूपातीत के रूप में विभाजित कर अष्टांग योग का विवेचन किया। यहां मंत्र परम्परा को भी स्थान दिया गया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने शुभचंद्राचार्य के चिंतन को आगे बढ़ाते हुए चित्त के चार प्रकार बताए– विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट एवं सल्लीन। यही आत्मा की बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा रूप अवस्थाओं का भी चित्रण किया गया है। इसी प्रसंग में पार्थिवी, वारुणी, तेजसी, वायवी और तत्त्व रूपवती [तत्त्वभू]—इन पांच धारणाओं का भी विवेचन हुआ है।

आचार्य शुभचंद्र ने अपने ज्ञानार्णव को 'ध्यान तंत्र' की भी संज्ञा दी है [३.२४] और ध्यान को वज्र भी कहा है [२८.५]। अन्यत्र 'वज्रपञ्जर' का उल्लेख करते हुए पृथिवी, अप, वह्नि, वायु और आकाश तत्त्व का वर्णन किया है [१९.१-५]। इसी सर्ग में आचार्य ने काम तत्त्व को आत्मस्वरूप माना है और कहा कि सभी शक्तियां आत्मा की है [१९.८]। आत्मा ही शिव, गरुड और काम है [१९.९]। ये संदर्भ ज्ञानार्णव पर तंत्र परम्परा के प्रभाव को व्यक्त करते हैं। अन्तर यह है कि तंत्र परम्परा की वीभत्सता यहां नहीं है बल्कि ध्यान के माध्यम से कामादिक वासनाओं को समाप्त कर आत्मा की अचिन्त्य शक्ति को उद्‌भासित किया है [१९.११]। इसलिए ध्यान के लक्षण में ममत्व त्याग और अन्तरंग-बाह्य परिग्रह की विरहिता आवश्यक मानी है [३.१९] बारह भावनाओं के चिंतन से योगी का मन नि:संग हो जाता है।

योग दर्शन में चित्त की पांच वृत्तियों का उल्लेख मिलता है—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इन्हें हम आत्मविकास की भूमिकायें कह सकते हैं। स्थविरवादी योग साधना में इन्हीं को चार भागों में विभाजित किया गया है— स्रोता-पत्ति, सकदागामी, अनागामी और अर्हत्। उत्तरकाल में महायानी योग साधना मे ये ही अवस्थायें दस भागों में संयोजित की है—प्रमुदित, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मनी, सुदुर्जया, अभिमुखी, दुरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा। आचार्य हरिभद्र ने आगम की रत्नत्रयी साधना को आठ दृष्टियों के रूप में उल्लिखित किया है—मित्रा, तारा, बला, दीपा, स्थिरा, कांता, प्रभा और परा [योगदृष्टि १३]। ये दृष्टियां आत्मतत्त्व को देखने के लिए क्रमिक आध्यात्मिक विकास को स्पष्ट करती हैं। हरिभद्र ने उन्हें क्रमशः तृण के अग्निकण, गोबर के अग्निकण, काठ के अग्निकण, दीपक की प्रभा, रत्न की प्रभा, तारे की प्रभा, सूर्य की प्रभा तथा चंद्र की प्रभा के समान साधक की दृष्टियां कहा हैं। ये दृष्टिया पातंजल दर्शन के अष्टांगयोग से मिलती-जुलती हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

शुभचंद्र ने हरिभद्र की आठ दृष्टियों को स्वीकार करने की अपेक्षा पातंजलि के अष्टांगयोग को अपनाया है और उसका विश्लेषण अपने ढंग से किया है। उन्होने यम को महाव्रत के साथ बैठाया है इस अंतर के साथ कि यम मात्र संयम है, निषेधात्मक है जबकि महाव्रत व्यापक है, भावात्मक है। महाव्रतों की स्थिरता के लिए पांच भावना, त्रिगुप्ति और पांच समितियों का पालन करना आवश्यक माना है [१८.१-५]। नियम (शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना) के अंतर्गत शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और

ईश्वर-प्रणिधान आते हैं। जैन परम्परा में इन सभी तत्त्वों पर बड़ी गहराई से विचार किया गया है। बारह भावनाएं, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, तप, स्वाध्याय तथा आत्मा के त्रिविध अवस्थाओं पर जैनधर्म में चिंतन, मनन और भावन किया जाता है। आचार्य ने इन सभी का विवेचन 'ज्ञानार्णव' में यत्र-तत्र बड़ी अच्छी तरह से किया है।

जैन योग परम्परा में **आसनों** का भी उपयोग किया गया है। आचार्य शुभचंद्र के अनुसार ध्यान-सिद्धि के लिए लकड़ी के पटिए पर, शिलापट्ट पर, जमीन पर या बालु पर आसन लगाना चाहिए। ये आसन हैं—पर्यंक, अर्धपर्यंक, वज्रासन, वीरासन, सुखासन और पद्मासन [२६.९-१०]। इनके अतिरिक्त उन आसनों का भी उपयोग किया जा सकता है जिनमें मन स्थिर रह सके। हेमचंद्र ने भद्रासन, दण्डासन, उत्कुटकासन और गोदोहिकासन का उल्लेख किया है [योगशास्त्र, ४.१२४]। शुभचंद्र ने इसी प्रसंग में कहा कि कालदोष से वर्तमान में कायोत्सर्ग और पर्यंक आसन का ही विशेष उपयोग होता है। महावीर जैसे वज्रवृषभनाराचसंहनन वाले योगी अब कहां हैं? संयमी जनों का प्राचीन तेज अब दिखाई नहीं देता [२६.१२-१६]। यहीं उन्होंने आसन के महत्त्व को भी स्पष्ट किया है और कहा है कि योगी को आसनों का उपयोग अवश्य करना चाहिए। उसे आसनजयी होना आवश्यक है [२६.३८-४०]। तत्त्वानुशासन का 'वज्रकायस्य ध्यानम्' [पद्य ८४] भी उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी की ओर ही संकेत करता है।

प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास को रोका जाता है। मन के ऊपर विजय पाने के लिए शुभचंद्राचार्य ने इसे उपयोगी माना है। इसके तीन भेद हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। हेमचंद्र ने इनके अतिरिक्त प्रत्याहार, शांत, उत्तर और अधर नामक भेदों का भी उल्लेख किया किया है [५.५]। प्राणायाम के साथ ही पार्थिव, वारुण, वायवीय और आग्नेय मंडलों का वर्णन किया गया है। इनके क्रमश: क्ष, व, बिंदु और र बीजाक्षर हैं [२६.५९-६२]। यहीं दक्षिण और वामनाडियों का भी विस्तार से वर्णन हुआ है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना तथा रंगचिकित्सा का भी विवेचन मिलता है। आचार्य ने यह भी कहा कि नीरोग व्यक्ति में दिन-रात में इक्कीस हजार बार प्राणवायु आती-जाती है। प्रत्याहार के प्रसंग में प्राणायाम की उपादेयता पर प्रश्नचिह्न भी खड़ा कर दिया। उनका मंतव्य है कि प्राणायाम से शरीर को सूक्ष्म-स्थूल किया जा सकता है, पर वह मुक्ति का कारण नहीं बन सकता। संवेगी और इन्द्रियविजयी के लिए वह उपयोगी नहीं हैं। पीड़ाकारण होने से वह संक्लेश परिणामों को भी जन्म देता है।

प्रत्याहार का तात्पर्य है मन को इन्द्रिय विषयों की ओर से खींचना। योगी के लिए इस प्रत्याहार की बड़ी उपयोगिता है [२७ ४-५]। हेमचंद्र ने भी इसे स्वीकारा है [योगशास्त्र ६.६]। इसमें प्रत्यहार के माध्यम से मन को ललाट पर केन्द्रित किया जाता है। धर्मध्यान के लिए इसकी नितांत आवश्यकता होती है। प्राणायाम मन को विक्षिप्त कर सकता है पर प्रत्याहार मन को स्वस्थ और समता में स्थिर करता है [२७.१-२]।

प्रत्याहार के द्वारा किए गए स्थिर मन को देश-विशेष में स्थिर करना **धारणा**

है। ललाट, नेत्रयुगल, कान, नासिका का अग्र भाग, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु और भौंह का मध्यभाग धारणा के लिए उपयुक्त स्थान माने जाते हैं। पिण्डस्थ ध्यान के संदर्भ में पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती धारणाओं का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक माना गया है। इन ध्यानों के साथ महामंत्र और उसके बीजाक्षरों की धारणा करने का भी विस्तृत विवेचन ज्ञानार्णव में मिलता है [३५वां सर्ग]। हेमचंद्राचार्य ने भी इसका वर्णन किया है [७.९-३५]।

ध्यान का प्रयोजन जैन योग परम्परा में आत्मस्वरूप में लीन होना माना गया है [ज्ञाना. १-९]। एकाग्रचिंता निरोध को ध्यान कहा जाता है। ज्ञानार्णव, योगशास्त्र आदि में इस पर बहुत लिखा गया है। शुभचंद्र ने ध्यान लक्षण के साथ ही उसके गुण-दोषों पर विचार किया है और अप्रशस्त-प्रशस्त ध्यानो का विवेचन करते समय सवीर्य ध्यान, पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का भी वर्णन किया है।

आत्मा का ध्यान करना समाधि है। पतंजलि की समाधि-परिभाषा को शुक्ल-ध्यान व शुद्धोपयोग में खोजा जा सकता है जहां ध्यान, ध्येय और ध्याता का भेद मिट जाता है, सभी प्रकार के जल्पों का क्षय हो जाता है और एकमात्र शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का चिंतन होता है। योगदर्शन की संप्रज्ञान समाधि की तुलना योगबिंदु की अध्यात्म, भावना, ध्यान और समल नामक भूमियों के साथ की जा सकती है और असम्प्रज्ञान-समाधि को वृत्तिसंक्षय के साथ बैठाया जा सकता है।

मध्ययुगीन जैन योग पर पतंजलि का यह प्रभाव अनदेखा नहीं किया जा सकता। जैनाचार्यों ने परिस्थिति के अनुसार उसे अपनी ध्यान परम्परा का अंग बना लिया। आगमिक परम्परा के अप्रशस्त और प्रशस्त तथा आर्त्त-रौद्र-धर्म-शुक्ल ध्यान के साथ ही मध्ययुग में धर्मध्यान के अन्तर्गत पूर्वोक्त, पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का वर्णन किया गया है और उनमें अन्तर्गत जाप, मंत्रादि का तथा पार्थिवी, आग्नेयी आदि चार धारणाओं का भी विवेचन हुआ है। इसी तरह आर्त्त और रौद्र ध्यान को यहां छोड़ दिया गया, यह कहकर कि वे चित्त को उद्वेलित करते हैं, ध्यान में बाधक बनते हैं।

मध्यकालीन जैन योग की यह भी विशेषता है कि उसमें ध्यान का अधिकार गृहस्थ को है या मुनि को? इस पर प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया गया। आगमिक परम्परा में इस पर कोई स्पष्ट मत व्यक्त नही किया गया। पर शुभचंद्र ने इस प्रश्न को खड़ा किया है। उनका कहना है कि घर में रहकर चंचल मन को स्थिर नहीं किया जा सकता है। वहां अनेक प्रकार की बाधायें रहती हैं, तृष्णा का जंजाल रहता है, मोह का क्षेत्र व्यापक होता है। इसलिए आर्त-रौद्र ध्यान के अतिरिक्त कोई भी प्रशस्त ध्यान नहीं हो पाता। शुभचन्द्राचार्य ने तो यहां तक कह दिया कि आकाश-कुसुम अथवा गधे के सींग की उत्पत्ति देखी जा सकती है परन्तु किसी भी देश और काल में गृहस्थ जीवन में व्यक्ति को ध्यान की सिद्धि नहीं देखी जा सकती है [४.१५-१७]। इसी तरह मिथ्यादृष्टि और धूर्त साधु भी ध्यान का अधिकारी नहीं

है [४.१९-२०]। कदाचित् इसीलिए हेमचन्द्राचार्यजी गृहस्थावस्था में भी योग की सिद्धि को स्वीकार किया है बशर्ते मन की निर्मलता हो। हरिभद्र ने भी योगाधिकारी के दो भेद किये हैं—अचरमावर्ती और चरमावर्ती। अचरमावर्ती साधक भवाभिनन्दी होता है, श्रद्धाविहीन होता है जबकि चरमावर्ती साधक स्वभावतः मृदु, विशुद्ध और मोक्षाभिलाषी होता है। [योगविंशतिका, ७६-८७]।

आगमिक परम्परा मे योगाधिकारी के उस प्रकार के भेद नही मिलते। वहा साधक की विशेषताओ का संकेत तो हुआ है पर गृहस्थ और मुनि वाला विवाद वहां दिखाई नहीं देता। पर इतना अवश्य है कि आर्त-रौद्र ध्यान तो सहज ही हो जाते हैं जबकि धर्मध्यान आयास-साध्य होता है। उसके लिए सम्यग्दृष्टि और वीतरागी होना आवश्यक है। अतः वह पचम गुणस्थानवर्ती देशवर्ती श्रावक या मुनि को ही संभव है। शुक्लध्यान सातवे अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर चौदहवे अयोगी केवली गुणस्थान तक किसी भी व्यक्ति को हो सकता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन आगम-परम्परा में ध्यान के चार प्रकार ही मान्य थे—आर्त, रौद्र, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। आदिपुराणकार जिनसेन तक ध्यान के ये ही प्रकार मान्य रहे। वहां न शिव, गरुण और काम जैसे तीन तत्त्वों को साधा गया है और न योगसूत्र के अष्टागयोग को स्वीकारा गया है। हा, इतना अवश्य है कि जिनसेन ने योग, समाधि, स्मृति, प्राणायाम, धारणा, आध्यान और अनुध्यान (२१.२१७-३०) पर अपने विचार अवश्य व्यक्त किये हैं जो योगसूत्र का स्मरण करा देते है। पर वहां शुभचन्द्राचार्य द्वारा किये किये पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का धर्मध्यान के प्रसंग में कोई वर्णन नही मिलता। योगीन्दु के योगसार [गाथा ९७] में इनका नामनिर्देश अवश्य मिलता है। उत्तरकालीन आचार्यों ने ज्ञानार्णव की इस परम्परा को किसी न किसी रूप मे प्रायः स्वीकार किया है। पिण्डस्थ ध्यान की, पांच धारणाओं की परम्परा भी ज्ञानार्णव से ही प्रारम्भ हुई दिखती है।

इसी तरह ऐसा लगता है, मध्ययुगीन जैन योग में विविध ऋद्धि-सिद्धि-प्राप्ति को भी स्वीकार कर लिया गया। विद्यानुनदादि प्राचीन जैनागमो में इनका वर्णन मिलता है, पर उन ऋद्धियों पर विशेष प्रकाश मध्ययुग मे ही डाला गया है।

इस प्रकार मध्ययुगीन जैन योग आनुक्रमिक विकास का फल है जिसमे योग सूत्र की पृष्ठभूमि को सुरक्षित रखा गया है और उसे तान्त्रिक परम्परा से बचाया गया है। सातवीं ज बारहवीं शती तक तान्त्रिक परम्परा चरमोत्कर्ष पर थी। बौद्धतन्त्र ने हेवज्रतंत्रादि ग्रन्थों में पंचमकारों का खुलकर प्रयोग किया है पर जैनयोग परम्परा उससे पूर्णतया अछूती बनी रही है। यह उसकी महाव्रतों की अक्षुण्ण साधना का ही फल है। आधुनिक युग में आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने 'प्रेक्षाध्यान' के रूप में इसी मध्ययुगीन जैन योग परम्परा को ही वैज्ञानिक रूप दिया है। उन्होंने प्राचीन जैनागमों से उसके बीजों और शब्दों को निकालकर उनकी आधुनिक शब्दावली में जो व्याख्या दी है वह

बड़ी प्रभावक बन रही है। बौद्ध धर्म की विपश्यना ध्यान प्रणाली से उनकी प्रेक्षाध्यान प्रणाली निश्चित रूप में अधिक वैज्ञानिक और सयुक्तिक है। नाड़ीतन्त्र, लेश्यातन्त्र, शरीरतन्त्र, मनोविज्ञान, आयुर्वेद आदि सभी तन्त्रों को उसमें बड़ी कुशलता के साथ संवलित कर दिया गया है। जैन योग परम्परा के लिए यह एक अभूतपूर्व उपलब्धि है।

■

—डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'
न्यू एक्सटेंशन एरिया
सदर, नागपुर

उपनिषद् और जैन दर्शन में आत्म स्वरूप-चिन्तन (२)

☐ हरिशंकर पाण्डेय

जैन दर्शन एवं उपनिषद् परम्परा में आत्म स्वरूप प्रतिपादन कमोबेश एक जैसा है। उपनिषदों में व्यावहारिक दृष्टि से संसार चक्र में फंसा जीव ही आत्मा है और जैन दर्शन में भी कर्ममललिप्त आत्मा संसारचक्र मे परिभ्रमण करता रहता है। संसार चक्र से मुक्त होने पर ही उसका मूल स्वरूप उद्भासित होता है। दोनों परम्पराओं में इसके लिए समान साधन बताए गए हैं।

आत्म प्राप्ति के साधन

उपनिषद् और जैन दार्शनिकों ने आत्मप्राप्ति के संसाधनों का विस्तार से निरूपण किया है। उपनिषदो में मुख्यतया यमनियमादि का पालन संयमाराधन व्रतादिकों का अनुष्ठान, ध्यान-साधना, समत्वादि का साधन के रूप में निर्देश है। मुण्डकोपनिषद् में रूपक के माध्यम से आत्म-प्राप्ति के साधनों का उल्लेख किया गया है :—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासा निशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि।[1]

अर्थात् उपनिषदों में प्रसिद्ध या वर्णित संयम नियमादि रूप महान् धनुष लेकर उसपर उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ा और फिर उसे खींचकर ब्रह्मभावानुगत चित्त से उस अक्षर रूप लक्ष्य का वेधन करें।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत्।[2]

अर्थात् प्रणव धनुष है, सोपाधिक आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। उसका सावधनतापूर्वक वेधन करना चाहिए और बाण के समान तन्मय हो जाना चाहिए।

उपर्युक्त प्रसंग में प्रणव-जप (ध्यान), आत्मा की उपासना, अप्रमाद, लक्ष्य में एकनिष्ठता एवं निरन्तरता आदि की साधना अनिवार्य है। जैनागमों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है। दोनों परम्पराओं मे उपदिष्ट संसाधनों मे से कुछ प्रमुख का विवरण अधोविन्यस्त है :—

अहिंसा—अहिंसा शब्द हिंसा का पूर्ण निषेध तो करता ही है साथ ही दया,

करुणा, मुदिता, मैत्री, पवित्रता, समता आदि को अपने क्रोड में धारण कर लेता है। जिसमें सर्वभूतहित एवं अनन्त करुणा की धारा अहर्निश प्रवाहित होती है। ईशावास्योपनिषद् में यह स्पष्टतया विवृणित है कि वही व्यक्ति मोहरहित एवं शोक-वियुक्त हो सकता है जो सर्वभूतहितरत हो, सबको अपने सदृश जानता हो :—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि जुगुप्सते।
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूदविजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥[३]

जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता है वह इसके कारण किसी से घृणा नहीं करता है। जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिए सब भूत आत्मा ही हो गए उस समय एकत्व देखनेवाले उस विद्वान् को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है? अर्थात् एकत्वदर्शी (अहिंसा व्रताराधक) शोक एवं मोह से परे हो जाता है।

प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् मे अहिंसा को आत्म-संयम का साधक कहा गया है और अहिंसा को श्रेष्ठ यज्ञकर्ता की पत्नी के रूप मे स्वीकार किया गया है :—

स्मृतिदयाशान्तिरऽहिंसापत्नी सयाजाः।[४]

उपनिषदों में अन्यत्र अनेक स्थलों पर अहिंसा की महनीयता स्वीकृत है :—

यत्तपोदानमार्जवमहिंसा—छान्दोग्योपनिषद् ३.१७.४

अहिंसा इष्टयः—प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्, ४

आरुणिकोपनिषद् में ब्रह्मचर्य के साथ अहिंसा की रक्षा पर विशेष बल दिया गया है—

ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन।
हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति ॥[५]

जैन दर्शन का प्राणतत्त्व है 'अहिंसा'। भगवान महावीर की वाणी अहिंसा है, उनका उद्घोष अहिंसा है, उनका जीवन-दर्शन अहिंसा है। संसार में सभी जीव अहिंस्य हैं, अवध्य हैं। आचारांगकार ने निरुपित किया है :—

तुमंसि नाम सच्चेव ज हंतव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि।[६]

अर्थात् जिसे तू हनन करने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है वह तू ही है। जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है वह तू ही है। जिसे तू मारने योग्य मानता है वह तू ही है।

मुनि सर्वतोभाव से कर्मों को जानकर वह किसी की हिंसा नहीं करता। वह इन्द्रियों का संयम करता है, उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता है—

इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति। संजमति णो पगब्भति[9]। जैन आगमों में अनेक स्थलों पर अहिंसा को सबका संरक्षक माना गया है तथा इसे सर्वभूत-हितरक्षक माता कहा गया है।

सत्य—'सत्य' व्रत का महत्त्व सर्वत्र स्वीकृत है। उपनिषदों में इसका महत्त्व सर्वत्र स्वीकृत है। 'सत्य' को ही भारतीयता का मूल स्वीकार किया गया है। 'सत्यमेव जयते'[8] यह भारत का सूत्रवाक्य है। आत्म प्राप्ति के साधनों में 'सत्य' का अनेक स्थलों पर निर्देश मिलता है :—

तदमृतं सत्येन छन्नम्—बृहदारण्यकोपनिषद (१.६.३)

तत्सत्यं स आत्मा—छान्दोग्योपनिषद (६.८.७)

श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च—मुण्डकोपनिषद् (२.१.७)

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा—मुण्डकोपनिषद् (३.१.५)

सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति—श्वेताश्वरोपनिषद् (१.१५)

इसीलिए औपनिषदिक ऋषि शिक्षा का प्रारंभ सत्य से ही करता है—'सत्यंवद धर्मंचर'[9] अर्थात् सत्य बोलो, धर्माचरण करो।

उपनिषदों में सत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार करते हुये यह कहा गया है कि सत्य ही धर्म है जो सत्य बोलता है वह धर्मकथन करता है।

आगम ग्रंथों में सत्य की इसी महत्ता को अत्यन्त संरम्भ के साथ स्वीकार किया गया है। आचारांग में सत्य का महत्त्व उद्घोषित किया गया है—

सच्चंसिधिति कुव्वह अर्थात् सत्य में धृति करो। सत्य का अनुशीलन ही परम कर्त्तव्य है तथा सत्यानुशीलन से व्यक्ति मृत्यु को तर जाता है :—

पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि। सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरति।[10] अर्थात् हे पुरुष तू सत्य का अनुशीलन कर। जो सत्य की शरण में रहता है वह मृत्यु को तर जाता है।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य का महत्त्व सार्वजनीन है। सभी सम्प्रदायों ने आत्मविद्या के साधक के लिए ब्रह्मचर्य-साधना को अनिवार्य माना है। उपनिषदों में निर्दिष्ट आत्म-विद्या की प्राप्ति के साधनों में ब्रह्मचर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहीं कहीं इसका स्वतंत्र रूप में निर्देश है तो कही तप, सत्य, श्रद्धा और अहिंसा आदि के साथ। मुण्डकोपनिषद् में तप, सत्य, श्रद्धा के साथ ब्रह्मचर्य को ब्रह्म से उत्पन्न बताया है—श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्य विधिश्च।[11] प्रश्नोपनिषद में पिप्पलाद ऋषि भारद्वाज आदि ऋषियों को ब्रह्मचर्य की आराधना का आदेश देते हैं—तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सवत्सरं संवत्स्यथ।[12] वहीं पर ब्रह्मचर्य द्वारा आत्म साधना की पुष्टि की गई है—ब्रह्मचर्येण ⋯ ⋯ ।[13]

जैनाचार्यों ने ब्रह्मचर्य को महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में स्वीकृत किया है तथा महाव्रतों में एक प्रमुख व्रत माना है। आचारांगकार ने ब्रह्मचर्य के महत्त्व को स्वीकार कर उसे कर्मबन्धन विच्छेद और मुक्ति के लिए अनिवार्य माना है—जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि।[14] ऋषि स्पष्ट निर्देश करता है कि प्राण त्याग श्रेष्ठ है लेकिन

ब्रह्मचर्य का खण्डन नहीं होना चाहिए :—

तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए ।[१५] अर्थात् तपस्वी के लिए यह श्रेय है कि ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए फांसी लेकर प्राण विसर्जन कर दे। वहीं पर ब्रह्मचारी के लिए कुछ आवश्यक कृत्यों का निर्देश किया गया है :—ब्रह्मचारी के लिए काम कथा वासनापूर्ण दृष्टि से किसी को देखना, परस्पर कामुक भावो का प्रसारण, ममत्व, शरीर सजावट विकत्थन मनचांचल्य और पापवृत्ति आदि सर्वथा परित्याज्य है। एक उक्ति प्रसिद्ध है :

सुविसुद्ध-शील-जुत्तो पावइ किर्त्ति जसं च इहलोए ।[१६]
सव्वजण वल्लहो च्चिय, सुह गइ-भागीअ परलोए ।

अर्थात् अखण्ड ब्रह्मचारी इस लोक में यश-कीर्ति प्राप्त करता है और सबका प्रिय होकर परलोक में मोक्ष का भागी होता है।

अपरिग्रह— भौतिक पदार्थों में आसक्ति, ममत्व, मूर्च्छा, राग का परित्याग अपरिग्रह है। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर आत्मप्राप्ति के साधनों में अपरिग्रह को स्वीकृत किया गया है। तेजोबिन्दूपनिषद् में ध्यान के अधिकारी के लिए अपरिग्रह की साधना अनिवार्य मानी गई है—

निर्द्वन्द्वो निरहंकारो निराशीरपरिग्रहः ।[१७]

जाबालोपनिषद् में कथित है कि जो परिग्रह से रहित है, पवित्र है वह मुक्त हो जाता है—अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षणो ब्रह्मभूयाय भवतीति ।[१८] कठोपनिषद् में नचिकेता यमराज संवाद में स्पष्ट रूप से अपरिग्रह का महत्त्व स्वीकृत है। यमराज बार-बार संसारिक भोग-विलास एवं वैभव-सम्पन्नता की ओर नचिकेता का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं लेकिन नचिकेता अपरिग्रह के महत्त्व को उद्घोषित करता है— न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः[१९] अर्थात् धन के द्वारा मनुष्य को तृप्त नहीं किया जा सकता है।

जैन ग्रंथों में अपरिग्रह को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। आचारांग का ऋषि आत्मसाधक को परिग्रह से विरत रहने का निर्देश देता है :— परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा[२०] अर्थात् साधक या मुनि अपने आपको परिग्रह से दूर रखे। भिक्षु को दिव्य और मानुषी सभी प्रकार के विषयों में अमूर्च्छित — परिग्रहातीत रहने के लिए कहा गया है— सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए[२१] अर्थात् सभी अर्थों — विषयों में अमूर्च्छित-मूर्च्छारहित रहना चाहिए। क्योंकि परिग्रह नरक है—आयाणं नरयं[२२]। जो परिग्रही होता है कभी भी दुःख से मुक्त नहीं होता है। सूत्रकृतांग में उद्दिष्ट है—

चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चई ।।[२३]

अर्थात् जो मनुष्य सजीव अथवा निर्जीव किसी भी वस्तु का स्वयं भी परिग्रह करता है, और दूसरो को सलाह देता है वह कभी दुःख से मुक्त नहीं हो सकता है। अपरिग्रही के महत्त्व को टंकित करते हुए भगवती आराधना का कवि कहता है :—

राग विवागं सतण्णाहिगिद्ध अवतित्ति चक्कवट्टिसुहं ।।
णिस्सगं णिव्वुइसुहस्स कहं अणंतभागं पि।[१०]

अर्थात् चक्रवर्ती का सुख राग-भाव को बढ़ाने वाला है तथा तृष्णा को समृद्ध करने वाला है। इसलिए परिग्रह का त्याग करने पर राग-द्वेष रहित साधक को जो सुख प्राप्त होता है, चक्रवर्ती का सुख उसके अनन्त भाग की भी समानता नहीं कर सकता है।

तप—आत्म प्राप्ति के साधनों में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपनिषदों में तप की विस्तृत चर्चा है। तैत्तिरीयोपनिषद् का स्पष्ट आदेश है कि तप से ब्रह्म को जानो—तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, क्योंकि तप ही ब्रह्म है—तपो ब्रह्म इति[१०]। मुण्डकोपनिषद् में अनेक स्थलों पर तप की महत्ता का संगायन किया गया है। एक स्थल पर तप को ब्रह्म की संकल्प शक्ति कहा गया है—तपसा चीयते ब्रह्म[११]। अर्थात् ज्ञान रूप तप के द्वारा ब्रह्म कुछ उपचय—स्थूलता को प्राप्त हो जाता है। अन्यत्र भी इसका प्रभूत उल्लेख मिलता है। जैन दर्शन में तपस्या को संवर और निर्जरा का साधन माना गया है—तपसा निर्जरा च।[१७] योगभाष्य मे क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों को सहना तप कहा गया है—तपो द्वन्द्व सहनम्[१८]। आचारांग के नवम अध्ययन में महावीर की तपस्या का व्यावहारिक रूप उपलब्ध होता है। कठोर तपश्चर्या के फलस्वरूप महावीर ने ज्ञान प्राप्त किया, तीर्थंकरत्व रूप-ज्ञान-करुणा के अद्वय रूप हो गए। तपस्या द्वारा समग्र कर्मों को दूर कर मनुष्य शाश्वत सिद्ध हो जाता है—तवसा धुयकम्मंसे सिद्धे हवइ सासए।[१९]

ध्यान—ध्यान की महत्ता सार्वजनीन एवं सर्व प्रथित है। चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है। आचार्य शंकर ने 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार की चित्तवृत्ति से जो परमानन्द दायिनी निरालम्ब स्थिति होती है उसको ध्यान कहा है।[२०] तैलधारा के समान ध्येय में चित्त की एकाग्रता ध्यान है।[२१] उमास्वाति ने 'उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्त को एकाग्र करने को ध्यान कहा है।[२२] उपनिषदों में अनेक स्थलों पर इसका विवरण मिलता है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में ध्यान की परिभाषा दी गई है—सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम्[२३]। मुण्डकोपनिषद् में ध्यान के द्वारा आत्म दर्शन का निर्देश दिया गया है—

ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।[२४]

उपनिषदों में ध्यान की विधि एवं महत्त्व का विस्तार से वर्णन मिलता है।

जैन परम्परा में ध्यान को प्रमुख आत्मसाधन के रूप में स्वीकृत किया गया है। आगम ग्रंथों एवं दार्शनिक साहित्य में इसका प्रभूत वर्णन मिलता है। ध्यान की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा गया है—

छिंदंति भावसमणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं।[२५]

अर्थात् भाव समण (श्रेष्ठ साधु) ध्यान रूप कुठार से भव वृक्ष (संसार चक्र) को काट डालते हैं। ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) में निर्दिष्ट है—

सीसं जहा सरीरस्स जहा मूलं दुमस्स य ।
सव्वस्स साहू धम्मस्स तहा झाणं विधीयते ॥[१६]

अर्थात् जिस प्रकार शरीर में सीस का, वृक्ष में मूल का महत्त्वपूर्ण स्थान है उसी प्रकार आत्मधर्म की साधना में ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नियमसार में प्ररूपित है कि सभी अतिचारों (दोषों) का प्रतिक्रमण ध्यान है।[१७] आचार्य नेमीचन्द चक्रवर्ती ने आत्मा में आत्मा के रमण को ध्यान कहा है। अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हुवे झाणं।[१८] वहां पर आत्मा को ही ध्यान रूपी रथ का धारक कहा गया है—

तवसुदवदवं चेदाज्झाण रहधुरंधरो हुवे जम्हा ।[१९]
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥

अर्थात् तप श्रुत और व्रत का धारक जो आत्मा है वही ध्यान रूपी रथ की धुरा को धारण करने वाला होता है। इसलिए हे भव्यजन ! ध्यान की प्राप्ति के लिए निरन्तर तप, श्रुत और व्रत में तत्पर होवो।

आत्मा का स्वरूप

आत्म स्वरूप प्रतिपादन में दोनों परम्पराओं ने उभयदृष्टिकोण—व्यवहारनय (व्यावहारिक दृष्टि) तथा निश्चयनय (पारमार्थिक दृष्टि) का उपयोग किया है। व्यावहारिक दृष्टि से संसार के दुःख-सुख के चक्र में फंसा हुआ जीव ही आत्मा है। वह शरीरवान्, देही और मरण धर्म तथा कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। श्वेताश्वरोपनिषद् में कहा गया है—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपः त्रिगुणस्त्रिवर्मा
प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥[४०]

अर्थात् जो वासनाजन्य गुणों से सम्बद्ध, फलप्रद कर्म का कर्ता और उस किए हुए कर्म का उपभोग करने वाला है। वह विभिन्न रूपों वाला त्रिगुणमय, तीन मार्गों से गमन करने वाला, प्राणों का अधिष्ठाता तथा कर्मों के अनुसार संचरण करने वाला होता है। जिस प्रकार अन्न और जल के सेवन से शरीर की वृद्धि होती है वैसे ही सकल्प, स्पर्श, दर्शन और मोह से कर्म होते हैं फिर यह देही क्रमशः विभिन्न योनियों में जाकर उन कर्मों के अनुसार रूप धारण करता है।[४१] जीव अपने पाप-पुण्य आदि कृत्यों के आधार पर बहुत से सूक्ष्म-स्थूल देह धारण करता है। इस देहान्तर प्राप्ति के दो कारण हैं : १. कर्मफल और २. मानसिक संस्कार।[४२]

जैन दर्शन में भी कर्मफल लिप्त संसारी जीव का यही स्वरूप है। कर्म कलंक से जो लिप्त है, स्वस्वभाव को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया है—

कम्म कालंकालीणा अलद्धससहाव भावसब्भावा ।[४३] पंचास्तिकाय टीका में कहा गया है—कर्मफलचेतनात्मकाः संसारिणः····अशुद्धोपयोगयुक्ता संसारिणः[४४] अर्थात् कर्म एवं कर्मफल चेतनात्मक संसारी जीव हैं। संसारी जीव अशुद्धोपयोग से युक्त है।

दोनों परम्पराओं में स्वीकृत है कि आत्मा की त्रैकालिक सत्ता है, वह अविनाशी

है, अमरण धर्मा है। उपनिषदों में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जो आत्मा के इस स्वरूप का उद्घाटन करते हैं। कठोपनिषद् में इस तथ्य की उद्घोषणा की गई है—

न जायते म्रियते वा विपश्चित्
नायं कुतश्चिद् न बभूव कश्चित् ।[४५]
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

अर्थात् यह विपश्चित्— मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है। यह न तो किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुआ है और न स्वतः ही बना है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है तथा शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं नहीं मरता। यदि मारनेवाला आत्मा को मारने का विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मारा हुआ समझता है तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते, क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है— नायं हन्ति न हन्यते ।[४६] गीता में इस स्वरूप का विस्तार से विश्लेषण किया गया है ।[४७]

जैनाचार्यों ने आत्मा के इस स्वरूप को स्वीकार किया है। आचारांगसूत्र में निरूपित है :—

से ण छिज्जइ ण भिज्जइ ण उज्झइ ण हम्मइ ।[४८]

दशवैकालिक निर्युक्ति भाष्य में इस तथ्य की ओर निर्देश किया गया है—

णिच्चो अविणासी सासओ जीवो ।[४९]

अर्थात् आत्मा नित्य, अविनाशी तथा शाश्वत है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी ऐसा ही निर्देश है—

नत्थि जीवस्स नासु त्ति[५०] अर्थात् जीव का कभी नाश नहीं होता वह अविनाशी है।

दोनों परम्पराओं में व्यतिरेक पद्धति का सहारा लिया है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंधादि विषयों से रहित है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है। उपनिषदों में इस तथ्य को प्ररूपित किया गया है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।[५१]

'आनंद ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति' अर्थात् जहां से मन के सहित वाणी उसे न पाकर लौट जाती है। उस ब्रह्मानन्द को जाननेवाला पुरुष कभी भय को प्राप्त नहीं होता है। अन्यत्र भी आत्मा की अग्राह्यता निरूपित है :—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा—कठो० २.३.१२
नैषा तर्केण मतिरापनेया कठो० १.२.९
न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः—केन १.३
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा—मुण्डक ३.३.२

जैनाचार्यों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। आचारांगकार ने लिखा है : —सव्वेसरा णियट्टंति तक्का जत्थ ण विज्जइ, मई तत्थ ण गाहिया,[५२] अर्थात् जहां से शब्द लौट जाते हैं, तर्क वहां नहीं जा सकते और मति वहां नहीं जा सकती अतः

वह तर्कादि से अग्राह्य है।

वह आत्मा स्त्री-पुरुष लिंग-भेद से रहित है। उसकी कोई आकृति या चिह्न नहीं है। श्वेताश्वरोपनिषद् में निरूपित है—

नैष स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः[53] अर्थात् यह आत्मा न स्त्री है न पुरुष है और न नपुंसक है। आचारांगकार ने भी ऐसा ही स्वीकार किया है।— ण इत्थी ण पुरिसे ण अण्णहा।[54] अर्थात् वह आत्मा न स्त्री है न पुरुष है न अन्य।

दोनों परम्पराओं में आत्मा को सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूप माना गया है।

१. वह सत्य स्वरूप है :—

तत्सत्यं स आत्मा—छान्दोग्योपनिषद्—६.८.७

सत्यमात्मानम्० ,, ६.१६ ७

एतत्सत्यंब्रह्मपुरम्० ,, ८.१.५

सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म—बृहदारण्यकोपनिषद् ५.४.१

प्रश्न व्याकरण सूत्र में सत्य को ही भगवान कहा गया है—

सच्चं भयवं,[55] अर्थात् सत्य ही भगवान है।

२. वह आनन्द स्वरूप है—उपनिषदों में इस रूप का अनेक स्थानों पर वर्णन किया गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—बृहदारण्यकोपनिषद् ३.९.२३

आनन्द आत्मा —तैत्तिरीय० २.५.१

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् —३.६.१

३. वह ज्ञान स्वरूप है :—

प्रज्ञान घन एव—बृहदारण्यक० ५.३.१५

आचारांग सूत्र में भी ऐसा ही निर्देश मिलता है—

परिण्णे सण्णे (५.१३६) अर्थात् वह परिज्ञ है, सर्वतः चैतन्य है।

विषमताएं

१. औपनिषदिक आत्मा नित्य, विभू, एक तथा सर्वव्यापक है, परन्तु जैन-दर्शन की दृष्टि में वह नित्यानित्य, प्रतिशरीर भिन्न, संख्या में अनन्त तथा प्रति शरीर मात्र व्यापी है।
२. औपनिषदिक आत्मा अपरिणामी है। उत्पत्ति विनाश से रहित शाश्वत सत्ता है परन्तु जैन दृष्टि में ध्रुवाध्रुव है।
३. आत्मा ही केवल जगत् का कारण है। उसी से सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है और उसी में विलीन हो जाता है, लेकिन जैन दर्शन में आत्मा को कारण के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। ■

संदर्भ

१. मुण्डकोपनिषद् २.२.३
२. ईशावस्योपनिषद् —६,७
३. प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्, ४
४. आरुणिकोपनिषद्, ३
५. आचारांग सूत्र ५.१०१
६. तत्रैव ५.५१
७. मुण्डकोपनिषद् ३.१.६
८. तैत्तिरीयोपनिषद् १.११.१
९. आचारांग सूत्र ३.४०
१०. तत्रैव ३.६५-६६
११. मुण्डकोपनिषद् २.१.७
१२. प्रश्नोपनिषद्—१.२
१३. तत्रैव १.१०
१४. आचारांग सूत्र ४.४४
१५. तत्रैव ८.५८
१६. कामघट कथानक —१२६
१७. तेजोबिन्दूपनिषद् १-३
१८. जाबालोपनिषद् ५
१९. कठोपनिषद् १.१.२७
२०. आचारांग सूत्र २.११७
२१. तत्रैव ८.२५
२२. उत्तराध्ययन सूत्र ६।७
२३. सूत्रकृताग सूत्र १, १.१.२
२४. भगवती आराधना, ११८३
२५. तैत्तिरीयोपनिषद ३.२.१
२६. मुण्डकोपनिषद् १.१.८
२७. तत्त्वार्थ सूत्र ९.३
२८. योगभाष्य २.३२
२९. उत्तराध्ययन सूत्र ३.२०
३०. अपरोक्षानुभूति १२३
३१. ब्रह्मसूत्र १.१.१ पर श्री भाष्य
३२. तत्त्वार्थ सूत्र ९.२७
३३. मण्डल ब्राह्मणोपनिषद, पृ. ३४७
३४. मुण्डकोपनिषद ३.१.८

३५. भावपाहुड़ १२२
३६. इसिभासियाइं २१.१३
३७. नियमसार ९३
३८. द्रव्यसंग्रह ५६
३९. तत्रैव ५७
४०. श्वेताश्वरोपनिषद् ५.७
४१. तत्रैव ५.११
४२. ,, ५.१२
४३. नयचन्द बृहद, गाथा १०९
४४. पंचास्तिकाय, गाथा सं. १०९ पर तात्पर्य वृत्ति :
४५. कठोपनिषद १.२.१८
४६. तत्रैव १.२.१९
४७. गीता २.१९-२६
४८. आचारांग सूत्र ३.५८
४९. दशवैकालिक निर्युक्ति भाष्य ४२
५०. उत्तराध्ययन सूत्र २।२७
५१. तैत्तिरीयोपनिषद २.४.१
५२. आचारांग सूत्र ५.१२३-१२५
५३. श्वेताश्वरोपनिषद् ९.१०
५४. आचारांग सूत्र ५.१३५
५५. प्रश्न व्याकरण सूत्र २.२

—डॉ हरिशंकर पाण्डेय
सहायक आचार्य
प्राकृत भाषा एवं साहित्य
जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनूं

शब्द शक्तियां—एक संक्षिप्त विवेचन

सुनीता जोशी

शब्द शक्तियों के सम्बन्ध में भारतीय शब्द विचारकों की चिंतनधारा को पूर्ण प्रतिष्ठा मिली है। शब्द से अर्थ की प्रतीति सम्बन्ध मूलिका है। यह सर्वजनीन अनुभव है कि शब्द सुनते ही अर्थ विशेष का ज्ञान होता है। इस अनुभव के आधार पर ही शब्दार्थ-सम्बन्ध की सत्ता मानकर उसके उपपादन हेतु अनेक विचारधाराओं का उद्गम हुआ जो वृत्ति रूप में स्वीकार की जाती है।

अभिधावृत्ति

साक्षात्संकेतित रूप मुख्यार्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द-व्यापार को अभिधा-वृत्ति कहा गया है[1] शब्द के व्यापार के बाद जिस अर्थ की प्रतीति अव्यवहित रूप से होती है वही मुख्य अर्थ है।

आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के ही उक्त मत का अनुसरण करते हुए संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति को अभिधा माना है।[2] चतुर्विध संकेतित अर्थ ही वह अर्थ है जिसे शब्द का मुख्य अर्थ कहा जाता है और इस चतुर्विध संकेतित अर्थ का बोधन कराने में शब्द का जो व्यापार होता है वह 'अभिधा व्यापार' या 'अभिधा शक्ति' कहलाता है।

अप्पय दीक्षित ने शक्ति के द्वारा अर्थ प्रतिपादिका वृत्ति को अभिधा कहा है।[3] इनके इस लक्षण में प्रयुक्त शक्ति एवं अभिधा ये दोनों पद भिन्नार्थक हैं। शब्द में शक्ति की सत्ता सदैव रहती है किंतु जब वह उच्चरित होता है तो उसमें अर्थावबोध रूप अभिधा व्यापार माना जाता है।

पंडितराज जगन्नाथ ने अभिधा के लक्षण को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया है। पूर्ववर्ती साहित्य शास्त्रियों का ध्यान अभिधा-लक्षण निरूपित करते समय शब्दार्थ-सम्बन्ध की ओर केन्द्रित नहीं हुआ था। इन्होंने अभिधा-व्यापार को शब्दार्थगत सम्बन्ध विशेष के रूप में प्रतिपादित किया। इनके अनुसार अभिधा शक्ति उस शब्द व्यापार को मानेंगे जिसमें अर्थ का शब्द में और शब्द का अर्थ में साक्षात् संबंध होता है।[4]

भोजराज ने भी वाक्यार्थ बोध में वर्ण, पद एवं वाक्य के कार्य-क्षेत्र को प्रदर्शित करके शब्दार्थ ज्ञान के लिए वृत्तियों की आवश्यकता स्वीकार की है। इनके अनुसार शब्द की तीन शक्तियां हैं जिनमें से अभिधा शक्ति प्रमुख है।[5]

अभिधा शक्ति के भेद

अभिधा शक्ति रूढ़ि, योग एवं योगरूढ़ि भेदों से तीन प्रकार की है। जब शब्द शक्ति से अखण्ड अर्थ का बोध कराता है, अवयवगत अर्थ की पृथक् रूप से प्रतीति नहीं होती तो वहां रूढ़ि अभिधा का क्षेत्र माना जाता है।[5]

रूढ़ि अभिधा में एक तो अवयवार्थ का भान ही नहीं होता दूसरे यदि उसका भान होता भी हो तो समुदाय शक्ति से उसका बोध हो जाने से उसकी स्वतंत्र प्रतीति नहीं होती यथा—मणिनुपूर इत्यादि। यहां शब्दार्थक मण् धातु से कर्त्ता अर्थ में इन् प्रत्यय करने पर भी मणि शब्द से कर्तृरूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती अपितु रूढ़ि-शक्ति से रत्नरूप अर्थ का ही बोध होता है।

जहां अभिधाशक्ति अवयवार्थ के बोध के साथ एकार्थ की बोधिका होती है वहां योगशक्ति का अवसर उपस्थित होता है।[7] उदाहरणार्थ—पाचकादि शब्द। यहां पच् धातु से विक्लित्यनुकूल व्यापार रूप अर्थ एवं अक् प्रत्यय से कर्तृरूप अर्थ की प्रतीति होती है। दोनों अर्थों को मिलाकर विक्लित्यनुकूलव्यापाश्रय रूप अर्थ का बोध होता है।

अभिधा को तृतीय भेद योगरूढ़ि में अवयव एवं समुदाय दोनों शक्तियों की अर्थबोधन के लिए अपेक्षा होती है। पदार्थ की प्रतीति के लिए दोनों की उपयोगिता रहती है।[8] उदाहरणार्थ—पंकजादि शब्दों में कमल अर्थ की प्रतीति कराने के लिए अवयव एवं समुदाय दोनों अर्थ अपेक्षित होते हैं।

अभिधा के उपर्युक्त तीन भेदों के अतिरिक्त एक चतुर्थ भेद यौगिक रूढ़ भी मानना आवश्यक है। यथा—अश्वगन्धा शब्द अश्व सम्बन्ध के कारण वाजिशाला अर्थ में यौगिक है किंतु औषधि विशेष के अर्थ मे रूढ़ होने से कभी यह यौगिक एवं कभी रूढ़ होता हुआ यौगिकरूढ़ का उदाहरण है।[9]

लक्षणावृत्ति

अभिधा से भिन्न सभी वृत्तियों को अभिमुखवृत्ति कहा जाता है। जब वाक्य में प्रयुक्त पदार्थों का परस्पर अन्वय बाधित हो जाता है तो उपपत्ति के लिए लक्षणवृत्ति का आश्रय लिया जाता है।

न्यायदर्शन में जब शक्यादि-समीप्यादि सम्बन्ध से अन्यार्थ की प्रतीति होती है तो वहां लक्षणा मानी जाती है। मुख्यार्थ बाध में अन्वयानुपत्ति एव तात्पर्यानुपत्ति को हेतु माना जाता है।[10] 'काव्यदर्पण' में भी यही कहा गया है।[11]

साहित्यशास्त्र में अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपत्ति होने पर जहां मुख्यार्थ से सम्बन्ध किसी अन्यार्थ की प्रतीति होती है वहां लक्षणवृत्ति मानी जाती है। लक्षणा में मुख्यार्थबाध मुख्यार्थयोग तथा रूढ़ि अथवा प्रयोजन ये तीन हेतु माने जाते हैं।[12]

नव्य-नैयायिकों ने तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणाबीज माना है। अभिधा की भांति लक्षणावृत्ति को भी पद एवं पदार्थ का सवर्धन प्रदान किया गया है। वाक्य में शक्ति न मानने वाले मीमांसक शक्यसम्बन्ध रूपा लक्षणा नही स्वीकार करते। उनके अनुसार "गंभीरायां नद्यांघोष." इत्यादि लक्ष्यानुसार ज्ञाप्य सम्बन्ध रूपा लक्षणा

ही मानी जाती है। यहां गम्भीर पद की तीर में लक्षणा नहीं हो सकती। गम्भीर पद की तीर में लक्षणा मानने पर तीर का नदी के साथ अन्वयबाधित है क्योंकि तीर नदी नहीं है। नदी पद की भी तीर में लक्षणा नहीं हो सकती क्योंकि तीर के गम्भीर न होने से उसका अन्वय बाधित है। यदि दोनों पदों में लक्षणा मानी जाती है तो 'नामार्थयोरभेदान्वय:" इस नियम के अनुसार गम्भीर तीर से अभिन्न नदी तीर रूप अर्थ की प्रतीति होगी जबकि गम्भीर नदी तीर में लक्षणा मानकर गम्भीर पद को मात्र तात्पर्य ग्राहक माना जाय तो यह भी विनिर्गमक के अभाव में ठीक नहीं है।

नदी पद को द्रव्य का वाचक मानकर उसका साक्षात् सम्बन्ध होने से उसी में लक्षणा मानना ठीक नहीं है क्योंकि गंभीरपद भी गुणिवाचक होने से उसका भी साक्षात् सम्बन्ध है अत लक्षणा समुदाय में ही मानी जायेगी। समुदाय में शक्ति न होने से शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा का अवसर ही नहीं रहेगा अत: ज्ञाप्यरूपा लक्षणा ही मीमांसकाभिमत है।[१३]

अद्वैतवेदांतदर्शन के अनुसार लक्षणा वाक्य-वृत्ति मानी जाती है। "गभीरायां नद्यां घोष:" इत्यादि लक्ष्यों में लक्षणा पद मात्रवृत्ति न होकर समुदायवृत्ति ही है।[१४]

प्राचीन-वैयाकरण शाब्दबोध में कार्य कारण भाव रूप गौरव को दृष्टि में रखते हुए लक्षणा को पृथक् वृत्ति नहीं मानते। अभिधावृत्ति को ही प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध इन दो भागों में विभाजित करके अप्रसिद्ध शक्ति में ही लक्षणा को भी अन्तर्भूत मानते हैं।[१५]

कतिपय विद्वानों ने यह कहा है कि लक्षित अथवा प्रतिपादित होने वाला ज्ञान ही लक्षणा है। इनका मत युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि अभिधा और व्यंजना की भांति लक्षणा भी एक वृत्ति है। इसलिए वृत्ति जन्य ज्ञान को लक्षणा कहना उचित नहीं है।[१६] लक्ष्यार्थ एवं मुख्यार्थ दोनों को ही अभिधावृत्ति बोध्य मान लेने पर गौण एवं मुख्य शब्दों की व्यवस्था लोक प्रसिद्धि से हो जायेगी।[१७] शब्द का जो अर्थ लोकप्रसिद्ध नहीं है वह उसका गौणार्थ माना जायेगा। गो शब्द का सास्नादिमदर्थ लोक प्रसिद्ध होने से मुख्यार्थ एवं वाहीक अर्थ लोक प्रसिद्ध न होने से गौणार्थ कहा जायेगा।

अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति होने पर जहां मुख्यार्थ से सम्बन्ध अन्यार्थ की प्रतीति होती है वहां लक्षणावृत्ति मानी जाती है। मुख्यार्थ बाध में अन्वयानुपपत्ति एवं तात्पर्यानुपपत्ति दोनों को बीज माना गया है। कहीं-कहीं पर अन्वयानुपत्ति एवं तात्पर्यानुपपत्ति दोनों को लक्षणा का बीज माना गया है। विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि लक्षणा में मुख्य रूप से तात्पर्यानुपपत्ति ही बीज है। अन्वयानुपपत्ति को बीज मानने पर "गंगायांघोष:" इस प्रसिद्ध प्रयोग में भी आपत्ति का प्रदर्शन किया जा सकता है। तात्पर्यानुपत्ति को बीज मानने पर ही गंगा पद की लक्षणा तीर में होती है।[१८] लक्षणा हेतुओं में मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के मध्य सम्बन्ध का भी विशेष

महत्त्व है। गौतम के अनुसार दस ऐसे सम्बन्ध हैं जिनके कारण प्रतिपत्ता प्रवृत्ति-निवृत्ति का आरोप होता है।[19]

महाभाष्यकार पतंजलि ने तात्स्थ्य, तादधर्म्य, सामीप्य एवं सहचरण इन चार संबंधों को लक्षणा का हेतु बताया है। इन चार संबंधों के कारण ही शब्द में प्रवृत्ति निवृत्ति का आरोपित व्यवहार करके अन्यार्थ की प्रतीति होती है।[20]

मुकुलभट्ट ने मीमांसाशास्त्र के आचार्य भर्तृमित्र का उल्लेख करते हुए उनके अनुसार "अभिधेय एवं लक्ष्यार्थ में सम्बन्ध होने के कारण सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य एवं क्रिया विशेष से योग --इन पांच संबंधों को लक्षणा के हेतु रूप में उल्लेखित किया है।[21]

लक्षणा के बीजों में रूढ़ि अथवा प्रयोजन का होना भी आवश्यक है। जब शब्द का लोक में प्रयोगाभिधेय अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रचलन हो जाता है तो वहां रूढ़ि लक्षणा होती है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण "कर्मणिकुशल" है। इस प्रयोग में कुशल शब्द का वाच्यार्थ "कुशों का आनयन-कर्त्ता है" किंतु रूढ़ि लक्षणा के कारण लोक में इसका प्रचलित अर्थ निपुण है जब वक्ता शब्द पयोग करता है तो निश्चय ही उसका अभिप्राय प्रयोजन विशेष की प्रतीति कराना है। "तटे घोष:" के स्थान "गगायां घोष:" इस वाक्य के प्रयोग से शैत्य एवं पावनत्वादि रूप प्रयोजन की प्रतिपत्ति होती है।[22]

लक्षणा के भेद

लक्षणा दो प्रकार की होती है। शुद्धा एवं गौणी। शुद्धा के उपादान लक्षणा, लक्षण लक्षणा, सारोपा एवं साध्यवसाना ये चार उप भेद होते हैं। गौणी के भी सारोपा एवं साध्यवसाना ये दो उप भेद होते हैं। यहां पर यह प्रश्न खड़ा होता है कि यदि लक्षणा के प्रथम दो रूप रूढ़ि एवं प्रयोजन को मिश्रित कर दिया जाय तो लक्षणा के आठ प्रकार हो जाएंगे। इस संदेह का निराकरण करते हुए कहा है कि लक्षणा के छ: प्रकारों के निर्देशक सूत्र में उपात् लक्षणावद प्रयोजनवती लक्षणा का ही वाचक है। रूढ़ि लक्षणा के सम्बन्ध में 'व्यंग्येन रहिता रूढ़ि सहिता तु प्रयोजने' सूत्र में विवेचन होने से यहां पर रूढ़ि को समाविष्ट करना औचित्यपूर्ण नहीं है।

अभिधा की भांति लक्षणा भी सर्वमान्यवृत्ति नहीं है। वैयाकरण लक्षणा को अतिरिक्त वृत्ति नहीं मानते। साहित्य शास्त्र में मुकुलभट्ट, महिमभट्ट, एवं कुन्तक लक्षणा विरोधी आचार्य हैं। मुकुलभट्ट ने अभिधा के दस भेदों के अन्तर्गत ही लक्षणा का अन्तर्भाव माना है। महिमभट्ट ने भी मात्र अभिधा का ही अस्तित्व स्वीकार किया है।[23] कुन्तक लक्षणा का खण्डन तो नहीं करते, किंतु विचित्रा-अभिधारूपा— वक्रोक्ति से लक्षणा को पृथक् भी नहीं मानते हैं।[24]

व्यञ्जनावृत्ति

मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराने वाली व्यञ्जना वृत्ति

को भी ध्वनिवादी आचार्यों ने स्वीकृति प्रदान की है। काव्य में अतिरमणीय भूतत्त्व प्रतीयमान है। प्रतीयमान वाच्य एवं लक्ष्य से भिन्न होता है। अतः उसकी प्रतीति के लिए व्यंजना को मानना आवश्यक है।

साहित्यशास्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी शास्त्र में व्यंजना व्यापार का उल्लेख नहीं मिलता। व्याकरण-शास्त्र के आचार्य नागेश भट्ट ने भी व्यंजना का निरूपण किया है किंतु इनका यह निरूपण साहित्यशास्त्रीय व्यंजना आविष्कार के बाद का ही है। व्यंजना शक्ति शब्द और अर्थ की वह शक्ति है जो अभिधा आदि शक्तियों के शांत हो जाने पर एक ऐसे अर्थ का अवबोधन करती है जो सर्वथा विलक्षण प्रकार का अर्थ हुआ करता है।

प्रयोजन की प्रतीति कराने की इच्छा से जहां लक्षणा द्वारा शब्द-प्रयोग किया जाता है वहां अनुमानादि द्वारा उस प्रयोजन की प्रतीति नहीं होती है अपितु उसी शब्द के द्वारा होती है और इस प्रयोजन प्रतीति के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता है।[२५]

"गंगातीरे घोषः" इत्यादि में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग इस हेतु किया जाता है कि उनके शीतत्व पावनत्वादि किसी प्रयोजन की प्रतीति हो सके। इसकी लाक्षणिक शब्द के द्वारा ही सर्वत्र प्रतीति होती है कोई अनुमान आदि अन्य प्रमाण इसकी प्रतीति कराने वाला नहीं है। यह लाक्षणिक शब्द व्यजना नामक व्यापार द्वारा ही प्रयोजन या फल की प्रतीति कराता है। अतः लक्षणामूलक व्यंजना की स्वीकृति अनिवार्य है।

जिस प्रकार गंगा शब्द प्रवाह रूप अर्थ में बाधित होकर तट रूप अर्थ का लक्षणा द्वारा बोध कराता है इसी प्रकार यदि तीरादि लक्ष्यार्थ घोषादि का आधार न हो सकता तो तीरादि अर्थ में भी वह बाधित हो जाता तथा शीतत्व पावनत्वादि मे लक्षणा हो जाया करती किंतु यहां मुख्यार्थ बाध नहीं है क्योंकि प्रथम तो तीर गंगा का मुख्यार्थ ही नहीं है दूसरे तीर रूप लक्ष्यार्थ में कोई बाधा भी नहीं है। गंगा शब्द तटादि का साक्षात् बोध कराने में असमर्थ होकर लक्षणा द्वारा तट का बोध कराता है। यदि प्रयोजन के प्रतिपादन में भी असमर्थ होता तो प्रयोजन को लक्ष्यार्थ माना जा सकता था, किंतु गंगा शब्द पावनत्वादि की प्रतीति में सर्वथा समर्थ है। अतएव प्रयोजन में लक्षणा नहीं हो सकती है।

काव्य में व्यंग्यार्थ एवं रसादि रूप अर्थ की प्रतीति के लिए आनन्दवर्धन ने व्यंजना व्यापार को जिस रूप में स्वीकार किया है उसे उनके परवर्ती समर्थकों ने भी उसी रूप में ग्रहण किया। सभी समीक्षकों ने व्यंजना को अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्तियों से पृथक् एवं उत्कृष्टतम वृत्ति सिद्ध करने का प्रयास किया एवं व्यंजनावृत्ति से बोधित होने वाले व्यंग्यार्थ को अनुमानादि प्रमाणों से अग्राह्य बताया।

व्यञ्जना के भेद

व्यंजनावादियों ने शाब्दी एवं आर्थी भेद से व्यंजना के दो भेद किये हैं।

शाब्दी व्यञ्जना अभिधामूला तथा लक्षणामूलक इन दो भेदों में विभक्त की जाती है।

अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना नियंत्रित अर्थ की बोधिका होती है। जब वाक्य में प्रयुक्त अनेकार्थक पदों में संयोगादि अभिधा नियामकों के कारण अभिधा प्राकरणिक अर्थ में नियंत्रित हो जाती है तब अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यंजना व्यापार द्वारा मानी जाती है।

संयोगादि नियामक हेतुओं के कारण अभिधा एकार्थ में नियत्रित हो जाती है, अतः अप्राकरणिक अर्थ के बोधन मे इसे सक्षम नही माना जा सकता है।

अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यंजना व्यापार से ही होती है।[२६] अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का अवसर तभी उपस्थित होता है जबकि वाक्य में अनेकार्थ शब्दों का प्रयोग किया गया हो और अभिधा प्राकरणिक अर्थ मे नियामक हेतुओं के कारण नियंत्रित हो गई हो। आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश में अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का यह उदाहरण प्रस्तुत किया है—

भद्रात्मनो दुरधि रोहतनोर्विशाल वंशोन्नतेः,
कृतशिलीमुख संग्रहस्या।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य,
दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत ॥

इस पद्य में प्राकरणिक अर्थ राजपरक अर्थ है द्वितीय अर्थ गजपरक अर्थ है किंतु वह कवि विवक्षित न होने से अप्राकरणिक है। अभिधा संयोगादिक से नियंत्रित होकर जब प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति कराकर उपरत व्यापार हो जाती है तब अप्राकरणिक अर्थ का बोध व्यंजनावृत्ति से ही सम्भव हो पाता है।

शाब्दी व्यंजना के दोनों भेदों का उपपादन करने के पश्चात् आर्थी व्यंजना के स्वरूप को भी उद्घाटित किया गया है। वक्तृ, बोद्धव्य इत्यादि सहकारी हेतुओं के कारण जब प्रतिभाशाली सहृदयों को वाच्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति होती है तब उसे आर्थी व्यंजना कहा जाता है।[२७]

आर्थी व्यंजना में अर्थ ही अर्थान्तर की प्रतीति का मुख्य हेतु होता है किंतु इसका आशय यह नहीं है कि इसमे शब्द का महत्त्व नहीं रहता। शब्द की सहकारिता आर्थी व्यंजना में भी अपेक्षित होती है।[२८]

शाब्दी एवं आर्थी व्यंजना दोनों मे शब्द की उपादेयता स्वीकार की गई है। आर्थी व्यंजना में एक अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति कराने वाले हेतुओं का संग्रह कराते हुए उनके उदाहरण भी दिये हुए हैं।

वक्तृ वैशिष्ट्य

जो दूसरों को अर्थ प्रतीति कराने के लिए वाक्य का उच्चारण करता है, उसे वक्ता कहा जाता है, काव्य में वक्ता या तो कवि होता है अथवा उसके द्वारा कथा में निबद्ध नायक इत्यादि होते हैं। वक्तृवैशिष्ट्य से वाच्यार्थ व्यञ्जक होता है।

'काव्यप्रकाश' में इसका उदाहरण दिया है कि[१९] नदी के तट पर जलाहरण के व्याज से नायिका उपनायक से चौर्यरत गोपन रूप अर्थ व्यंजित हो रहा है। इस पद में वर्णित वक्तृकामिनी के दुःस्वभाव को जानने वाले सहृदयों के प्रति चौर्यरत गोपन अभिव्यंजित हो रहा है।

प्रमाणान्तर से नायिका का दुराचरण जिन प्रतिभाशाली सामाजिकों को विदित है उन्हीं को इस व्यंग्यार्थ की अवगति होती है। 'काव्यदर्पण' में भी इसका अन्य उदाहरण दिया गया है।[२०]

बोद्धव्य वैशिष्ट्य

बोद्धव्य विशेष के संयोग से भी वाक्यार्थ व्यजक होता है। इसका भी उदाहरण[२१] है जिसमें बोद्धव्य वैशिष्ट्य से दूती का उस नायिका के नायक द्वारा उपभोग व्यक्त हो रहा है। यहां पर बोद्धव्य दूती है। जिसकी दुष्ट चेष्टाओ को पहले भी माना गया है। अतः बोद्धव्य वैशिष्ट्य के कारण इस उदाहरण के वाच्यार्थ द्वारा सहृदयो को यह व्यंग्य प्रकट हो रहा है कि यह नायिका अपने पति द्वारा इस दूती के उपभोग को प्रकट कर रही है।

दीक्षितजी ने 'काव्यदर्पण' में भी बोद्धव्य वैशिट्य का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है।[२२]

काकु वैशिष्ट्य

काकु के वैशिट्य से भी वाच्य अर्थ विशेष का व्यंजन होता है।[२३] आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में इसका उदाहरण प्रस्तुत किया है जो वेणीसंहार नाटक के प्रथम अङ्क से लिया गया है।[२४]

इसमें भीमदेव सहदेव से कह रहे हैं कि गुरु अर्थात् युधिष्ठिर मेरे ऊपर क्रोध कर रहे हैं। यहां काकु के द्वारा यह व्यंजित होता है कि मेरे ऊपर मात्सर्य उचित नहीं है अपितु इसका औचित्य कौरवों के ऊपर ही है।

काकु का उदाहरण दो स्थलों पर उपलब्ध होता है एक तो काकु से व्यंजित अर्थ व्यंग्य होता है। और दूसरा काकु से व्यंजित होने वाला अर्थ गुणीभूतव्यंग्य भी होता है। इन दोनों में पार्थक्य की दृष्टि स्थापित करना आवश्यक प्रतीत होता है। जहा पर काकु से व्यंजित होने वाला अर्थ वाच्यार्थ की सिद्धि में सहायक होता है वहां पर गुणीभूतव्यंग्य माना जाता है।

इसके अतिरिक्त जहां पर वाच्यार्थ सिद्धि के अनन्तर काकु से व्यंजित व्यंग्यार्थ प्रतीति का विषय बनता है वहां पर वह उत्तम काव्य की कोटि में परिगणित किया जाता है।

वाक्य वैशिष्ट्य

वाक्य वैशिष्ट्य से भी वाच्य व्यंजक माना जाता है। जैसे सपत्नी के पास गये हुए प्रणय से कुपित नायक के प्रति नायिका की उक्ति है।[२५]

वाक्य वैशिष्ट्य का उदाहरण 'काव्यप्रकाश' में भी दिया है।[२६] इस उदाहरण में नायक का प्रच्छन्न कामकत्व व्यंजित होता है। नायिका के भय से निकटवर्तिनी अन्य

प्रियतमा को हटाकर नायिका के गण्डस्थल में प्रतिबिम्बित प्रिया के मुख को अतिशय प्रेम से देखते हुए नायक के प्रति रहस्य को जानने वाली नायिका की यह उक्ति है।

नायिका नायक के दृष्टिगोचर को जान लेती है। अत: वाक्य वैशिष्ट्य से प्रच्छन्न कामकत्व की अभिव्यंजना होती है।

वाच्य वैशिष्ट्य

वाच्य वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उदाहरण प्रस्तुत किया है।[१६] नायिका के प्रति कामुक नायक अथवा दूती की यह उक्ति है। नर्मदा का उच्च प्रदेश तथा उसके विशेषण वातकुञ्ज आदि के रूप मे जो वाक्य है उनकी विलक्षणता के कारण सहृदयजनों को एक विशेष व्यग्य रूप अर्थ की प्रतीति होती है। इस श्लोक के प्रत्येक पदों मे अभिव्यजकता का पुट उपलब्ध होता है। यहा नर्मदा का नदी विशेष ही अर्थ नहीं अपितु जो नर्म अर्थात् पीड़ा को प्रदान करती है।

उद्देश्य से स्थान की निर्जनता व्यजित होती है। सरस शब्द कटुशब्दसाहित्य को अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार अन्य पद भी अनेक अर्थ की अभिव्यंजना करते हैं।

अन्य सन्निधि वैशिष्ट्य

अन्य सन्निधि के सयोग से भी वाच्य अर्थ विशेष का व्यंजक माना जाता है।[१७] इसमें अन्य सन्निधि वैशिष्ट्य के द्वारा नायिका का नदी के किनारे संकेत स्थान पर मिलन यह अर्थ व्यजित होता है।

'काव्यप्रकाश' में भी मम्मट ने इसका उदाहरण निरूपित किया है।[१८]

नायिका पार्श्ववर्तिनी को सम्बोधित करके अपनी सास को उलाहना देती हुई कहती है कि दया से रहित हृदय वाली मेरी सास मुझे दिन भर घर के कार्यों में संलग्न रखती है। थोड़ा समय यदि मिल भी जाता है तो वह सायंकाल को ही मिल पाता है।

यहा पर यह व्यंजना होती है कि दिन में श्रम की अधिकता के कारण अवकाश ही नहीं मिल पाता है; अत: सायंकाल ही मिलन का समय है, यह व्यंग्यार्थ निकलता है।

प्रस्ताव वैशिष्ट्य

प्रस्ताव के द्वारा भी वाच्य व्यंजक माना जाता है।[१९] सखियों के द्वारा पति के आगमन पर अभिसरण की प्रवृत्ति को त्याग दो यह प्रस्ताव वैशिष्ट्य से व्यंजित होता है।

'काव्यप्रकाश' में भी इसका उदाहरण प्राप्त होता है[२०] कि किसी नायिका की सखी उसको उपपत्ति के पास जाने से रोकती है। उसका कहना है कि ऐसा समय हो रहा है कि तुम्हारा पति प्रहरमात्त में ही आने वाला है। अत: तुम्हें उसकी सेवा के योग्य उचित सामग्रियों का संकलन करना आवश्यक है। यहां पर प्रहर शब्द का सन्निवेश करने से शीघ्रागमन की व्यंजना होती है।

इस पद्य में उपनायक के पास अभिसरण के प्रस्ताव का वैशिष्ट्य है।

उपपति के पास अभिसरण के उपयोगी वेषादि से युक्त नायिका के प्रति पति के आगमान की वार्ता उसकी अभिसरण का निषेध ही सामाजिको के प्रति व्यंजित होता है।

देश वैशिष्ट्य

देश वैशिष्ट्य से भी वाच्य व्यंजक माना जाता है।[४१] यहां पर देश वैशिष्ट्य के द्वारा यह व्यंजित होता है कि यह दुर्जन स्थान ही संकेत के योग्य है।

सखीवेश धारी अपने उपपति के साथ आई हुई प्रिय सखी को देखकर कोई नायिका अपनी सखियों से कह रही है[४२] यहां पर सखियों को पुष्प-चयन के लिए अन्यत्र भेजकर एक स्थान को निर्जन बताया गया है अतएव यहां देश वैशिष्ट्य है।

काल वैशिष्ट्य

वाच्य की व्यंजकता में काल वैशिष्ट्य को भी हेतु माना गया है।[४३]

यहां पर काल वैशिट्य के द्वारा सायकाल ही संकेत योग्य है। अत: प्रच्छन्न कामुक को शीघ्र यह व्यञ्जित होता है।

मम्मट ने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया है[४४]—जिसमें प्रवास की ओर गमन करने के इच्छुक नायिका की नायक के प्रति यह उक्ति है कि वह गुरुजनों के अधीन नायक को प्रवास गमन से रोकने मे असमर्थ है। इस काल के वैशिष्ट्य से नायक के प्रवास गमन से नायिका के मरण की अभिव्यजना की गई है। यहां पर 'अद्य' पद से वसन्तकाल का निर्देश होता है। अत: इसी के वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ की व्यञ्जकता मानी जाती है।

आर्थी व्यञ्जना मे निर्दिष्ट आदि पद से चेष्टादिक का ग्रहण किया गया है। चेष्टा के वैशिष्ट्य से भी वाच्यार्थ की व्यञ्जता सिद्ध होती है।[४५]

जैसे वेष बदलकर अपने सम्बन्ध मे नायिका की विशेष चेष्टाओ को जानने वाला कोई नायक अपने मित्र से कह रहा है। यहां परनायिका की चेष्टाओं का वर्णन वाच्यार्थ है। उसके द्वारा सहृदयजनों को एक विशेष अर्थ की प्रतीति हो रही है। यहां पर चेष्टा के द्वारा गुप्त प्रियतम के प्रति अपना विशेष अभिप्राय: प्रकट किया जा रहा है।

इस प्रकार आर्थी एवं शाब्दी व्यञ्जना इन दोनों भेदों के विभाजक तत्त्व के रूप में अन्वय एवं व्यतिरेक को निर्णायिक माना गया है। जहां पर शब्द के पर्यायान्तर के होने पर भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वहां पर शब्द की अप्रधानता बनी रहती है। प्रधानता अर्थ की मानी जाती है। अतएव ऐसे स्थलो में आर्थी व्यञ्जना का अवसर उपस्थित होता है।

तात्पर्य वृत्ति

तात्पर्यवृत्ति का निरूपण दो रूपों में उपलब्ध होता है। प्रथम रूप की उपयोगिता मात्र अन्वयांश रूप वाक्यार्थ के लिए मानी गयी है। इसे अभिहितान्वयवादी

मीमांसक का मत बतलाया गया है ।[39] वाक्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ अभिधावृत्ति से ज्ञात हो जाता है किन्तु अन्वयांश रूप वाक्यार्थ के बोधन में अभिधा शक्ति का सामर्थ्य नहीं माना जा सकता इसलिए अन्वयांश रूप वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए तात्पर्यवृत्ति की सत्ता स्वीकार करनी आवश्यक है। अन्वयांश रूप वाक्यार्थ पदार्थ व्यतिरिक्त है। अतः उसके बोधन में अभिधाव्यापार क्षीण शक्तिक भी माना जायेगा ।

अन्वयांश बोधिका तात्पर्यवृत्ति के स्वरूप की मीमांसा प्रायः सभी ध्वनि-सिद्धांत समर्थक आचार्यों की कृतियों में उपलब्ध होती है ।

तात्पर्यवृत्ति के द्वितीय स्वरूप का विवेचन तात्पर्यवादी आचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इन्होंने व्यञ्जना वृत्ति को अतिरिक्त वृत्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया। व्यंग्यार्थ को तात्पर्यार्थ से अनतिरिक्त बताते हुए इसे तात्पर्यवृत्ति बोध्य सिद्ध करने का प्रयास किया है ।

कतिपय पदवाक्यतत्ववित् लोग (कुमारिल भट्ट आदि) तात्पर्य नामक एक और भी शक्ति मान्य करते हैं जो पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों के परस्पर अन्वय अथवा संबंध का बोध कराती है और जिसके द्वारा उपस्थापित अर्थ तात्पर्यार्थ कहा जाता है। यह तात्पर्यार्थ वाक्य का अर्थ हुआ करता है ।[40]

मीमांसा में वाक्यार्थ शैली का विवेचन विशेष रूप से किया गया है इसलिए मीमांसकों को 'वाक्यशास्त्र' कहा जाता है। मीमांसकों में भी वाक्यार्थ के विषय में कई मत पाये जाते हैं जिनमें 'अभिहितान्वयवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद' दो मुख्य ही हैं। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथी मिश्र आदि 'अभिहितान्वयवाद' के समर्थक हैं इसके विपरीत प्रभाकर और उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि 'अन्विताभिधानवाद' के समर्थक हैं ।

अन्य आचार्यों ने तात्पर्यवृत्ति को वक्ता के विवक्षित अर्थ के बोधन तक समर्थ बताया है। जब तक वाक्य का कार्य पूर्ण नही होता तब तक तात्पर्यवृत्ति की भी विश्रान्ति नही मानी जाती है ।[41]

धनिक का मत है कि यदि प्रतिपाद्य वाक्य में क्रियाकारक एवं संसर्गांश की यथावत् पूर्ति हो जाती है तो उसे एक दृष्टि से तो पूर्ण माना जाता है किन्तु जब तक उससे अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं हो जाती उसे अपूर्ण ही माना जायेगा। अतः वाक्यार्थ मात्र क्रियाकारक रूप संसर्गात्मक रूप में सीमित नहीं माना जा सकता ।[42]

तात्पर्यवृत्ति वक्ता के अभीष्ट अर्थ की प्रतीति कराकर ही विरत मानी जाती है ।

तात्पर्यवादी आचार्य अभिधा का तो विराम स्वीकार करते हैं किन्तु तात्पर्यवृत्ति का नहीं। पदार्थ प्रतीति कराकर अभिधावृत्ति विरत हो जाती है क्योंकि उसका विषय मात्र संकेतित अर्थ है किन्तु तात्पर्यवृत्ति वक्तृ एवं श्रोतृ वैशिष्ट्य से तात्पर्यविषयीभूत् अर्थ की प्रतीति कराकर ही क्षीण होती है। अभिधा की भांति इसका विषय भी

निर्धारित नहीं है।

इस प्रकार सभी शास्त्रों एवं दर्शनों में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना एवं तात्पर्य इन चार वृत्तियों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। व्यंजना एवं तात्पर्यवृत्तियों का शब्दशास्त्र के लिए विशेष महत्त्व है। काव्य में भी अभिधेय एवं लक्ष्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ भी विद्यमान रहता है। इस अतिरिक्त अर्थ की सत्ता से ही काव्य का वैलक्षण सिद्ध होता है। इस अर्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना एवं तात्पर्य इन पृथक्-पृथक् व्यापारों की कल्पना की गई है।

□

सन्दर्भ :

१. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्या व्यापारोऽस्याभिधीयते।

—का० प्र०, २।१

२. तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा।

—सा० दर्पण, २।७

३. शक्त्या प्रतिपादिकत्वमभिधा।

—वृ० वा० सू० १

४. शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः अर्थगतो वा सम्बन्ध विशेषोऽभिधा।

—रसगंगा० पृ० १४०

५. तेषु शब्दस्यार्थभिधायिनी शक्तिरभिधा। तया स्वरूप इवाभिधेये प्रवर्तमान शब्दो वृत्तित्रयेण वर्तते, ताश्च मुख्या गौणी लक्षणेति त्रिस्रः। तत्र साक्षाद्व्यवहितार्थाभिधायिका मुख्या।

—श्रृंगार प्रकाश ७।२३३

६. वृत्तिवार्तिक सू० २

७. अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थं प्रतिपादिकत्वं योगः।

—वृत्तिवार्तिक सू० ३

८. अवयवसमुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढिः।

—वृत्तिवार्तिक सू० ४

९. वै० सि० ल० म०, शक्ति प्रकरण।

१०. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, शब्द खण्ड।

११. तात्पर्याविषयीभूतार्थान्वयानुपपन्तिः।
शक्याभिन्नार्थधीहेतुर्व्यापारो लक्षणोच्यतु॥

—का० द०, २।२१

१२. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥

—का० प्र०, २।९

१३. वैयाकरण सिद्धान्त लघुमन्जूषा, लक्षणा निरूपण।

१४. वै० प० पृष्ठ २४३-२४६

१५. वैयाकरणभूषणसार, शक्ति नि०।

१६. लक्षणा अभिधाव्यंजनायोसि वृत्तिरुपतया वृत्तिअन्यायाः।
प्रतिपत्तेर्लक्षणात्वासंभवात्।

— बालबोधिनी टीका, पृ० सं० ४०

१७. वाक्य प्रदीप, २।२५५

१८. अतस्तात्पर्यानुपत्तिरेव लक्षणाबीजमित्याहु ।

—बालबोधिनी टीका, पृ० सं० ४

१९. सहचरणस्थान तादर्थ्यवृत्त मानधारण सामीप्य योगसाधनाधिपत्येभ्योब्राह्मण बाल-
कटराजसक्तुचन्दनगंगा शकटान्न पुरुषेष्वतद्भावेगर्पतदुपचारः।

—न्या० द०, अध्याय २, आ० २ सू० ६३

२०. महाभाष्य, १।१।९

२१. अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायत्।
वैपरीत्यात्क्रियायोगल्लक्षणा पंचधास्मृता ॥

—अभिधा, वृ० मा० ११

२२. का० प्र० द्वि० उ०।

२३. शब्दस्यैकाभिधानशक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता।

—व्यक्ति-विवेक, १।२६

२४. वक्रोक्ति-जीवित, पृ० २

२५. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनापरा क्रिया ॥

—काव्यदर्पण, २।४०

२६. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यावृत्तिरंजनम् ॥

—का० प्र० द्वि० उ०, सू० ३२

२७. वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ॥
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥

—का० प्र०, तृ० उ० सू० ३७

२८. शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥

—काव्यदर्पण, ३।८०

२९. अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम्।
श्रम स्वेदसलिलनिःश्वासनि सहा विश्रम्यामि क्षणम् ॥

—काव्यप्रकाश, ३।१३

३०. अस्तं गतोऽय सविता पथिकक्क प्रयास्यासि।
इत्यत्र व वक्तृवैशिष्ट्यज्ञानादत्याभिलाषवी: ॥

—का० द०, ३।६८

३१. औत्सिक्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्या कृते सखि त्वमसि अहृहा परिभवति ॥

—का० प्र० ३।१४

३२. प्रातश्चेत्ताथ को दोषः श्रान्तोऽसिस्वपिहि क्षणम् ।
अत्र बोद्धव्यवैशिष्ट्यादवक्तृकोपः प्रतीयते ॥

—काव्यदर्पण, ३।६९

३३. सखि श्रुत्वापि मामेवं नानुतापमुपैति: सः ।
इत्यदौ काकुवैशिष्ट्य ज्ञानाद्वयङ्‌ग्यार्थधीमंता ॥

—काव्यदर्पण, ३।७६

३४. तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां,
वनेव्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भ निभृतं,
गुरुः खेद खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥

—का० प्र० ३।१५

३५. स्वप्नेऽपि नारमरः प्राग्नां श्रान्येनाद्यागतो सिमे ।
इत्यादौ वाक्यवैशिष्ट्यज्ञनाग्द्यांगयार्थधीमंता ॥

— का० दर्प० ३।७१

३६. तदा मम ग्रण्डस्थलनिमग्नां दृष्टि नानैषीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न च सा दृष्टिः ॥

—का० प्र०, ३।१३

३७. उद्देश्योऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी ।
कुञ्जोत्कर्षंकरितरमणी विभ्रमो नर्मदायाः ॥
किञ्चैतस्मिन्सुखसुहृदस्तन्वितेवान्तिबाचा ।
येषामग्रे सरति कलितऽकाण्डकोपो मनोभूः ॥

—काव्यप्रकाश, ३।१७

३८. एकाकिन्येव यास्यामि जलार्थं कथमापगाम् ।
इत्यादिषु व्यङ्ग्यबुद्धिर्वैशिष्टयादन्यसंनिधेः ॥

—काव्यदर्पण, ३।७३

३९. नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मा गृहभरे सकले ।
क्षणमात्र यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥

—का० प्र०, ३।१८

४०. वयस्य प्रतिवेशिन्याः पतिरद्य समागतः ।
अत्र प्रस्ताववैशिष्ट्यज्ञानाद्वयङ्ग्यार्थनिश्चयः ॥

— का० द०, ३।७४

४१. श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि सज्जय करणीयम् ॥

—का० प्र०, ३।१९

४२. सख्यो दूरं गता गन्तुमक्षमाहमिह स्थिता ।
इत्यत्र देशवैशिष्ट्यज्ञानेन व्यङ्ग्यधार्मता ।।

—का० द०, ३।७५

४३. अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्य: ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्व: ।।

—का० प्र०, ३।२०

४४. गृहकृत्या-व्यापृताया विश्रमोऽद्यैव मे सखि ।
इत्यादौ कालवैशिष्ट्यज्ञानाव्यङ्ग्यार्थनिर्णय: ।।

—का० द०, ३।७६

४५. गुरुजन परवश प्रिय, किं भणामि तव मन्दभागिनी अहं ।
अद्य प्रवासं व्रजति व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ।।

—का० प्र०, ३।२१

४६. द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया,
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्पर समासक्तं समासादितम् ।
आनीतं पुरत: शिरोंशुकमध: क्षिप्ते चले लोचने,
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते ।

—का० द० १

४७ 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्'

—का० प्र०, द्वि० उ० सू० ७

४८. तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहु: पदार्थान्वियबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे ।।

—सा० द०

४९. दशरुपक, च० प्र० अ० टीका ।

५०. प्रतिपादयस्य विश्रान्तिरपेक्षा पुरणाद् यदि ।
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्ति र्नवा कथम् ।।

—दशरुपक, च० प्र० अ०, का० ६

—डॉ० (कु०) सुनीता जोशी
द्वारा/श्री, एस० एन० जोशी
एच-१४९, हल्दी-२६३१४६
जिला—ऊधमसिंह नगर

'तत्पूर्वकम् अनुमानम्'–एक विश्लेषण

ब्रज नारायण शर्मा

महर्षि गौतम ने प्रत्यक्ष-लक्षण व्यक्त करने के पश्चात् अनुमान का लक्षण इस प्रकार विवेचित किया है—

'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च'

—१।१।५

इस सूत्र में तीन प्रकार के पूर्ववत, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रदर्शित करते हुए उनके लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये गये हैं। सूत्र में 'तत्पूर्वकं अनुमानम्' पद द्वारा अनुमान लक्षण व्यक्त किया गया है। सूत्रकार ने 'अनुमान' का परीक्षण करते हुए इसकी समीक्षा में दो सूत्र और भी दिये हैं—

'रोध-उपघात-सादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम्'

—[२।१।३८]

अर्थात् रोध, उपघात और सादृश्य आदि व्यभिचार दोष होने के कारण अनुमान अप्रमाण है। फिर अगले ही सूत्र में सूत्रकार कहते हैं—

'न एकदेश-त्रास-सादृश्येभ्योऽर्थान्तर भावात्'

—[२।१।३९[

नहीं ऐसा नहीं है क्योंकि एकदेश, त्रास, (भय) एवं सादृश्य (समानता) के आधार पर भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों में तथा सार्वत्रिक व्यभिचार नहीं देखा जाता है। अतः उक्त दोषयुक्त अनुमानों से भिन्न होने के कारण अनुमान प्रमाण है।

उक्त अनुमान लक्षण सूत्र मे प्रयुक्त पद 'तत्पूर्वकं' तथा 'त्रिविध' पद ऐसे हैं जिनके बारे में उत्तरवर्ती व्याख्याकारों में काफी मतवैभिन्य परिलक्षित होता है। भाष्यकार वात्स्यायन ने सूत्रकार के तीनों सूत्रों को ध्यान में रखते हुए तीन प्रकार के अनुमानों की उदाहरण सहित द्विविध व्याख्या की है किन्तु 'त्रिविध' की भांति 'तत्पूर्वकम्अनुमानम्'' की व्याख्या उन्होंने निम्न प्रकार की है। भाष्यकार कहते हैं—

'तत्पूर्वकम् इति अनेन लिंगलिंगिनोः सम्बन्धदर्शनं
लिंगदर्शनं चाऽभिसम्बध्यते।
लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिंगस्मृतिरभिसम्बध्यते। स्मृत्या
लिंगदर्शनेन चाऽप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।'

—[न्यायभाष्य पृ० २११]

अर्थात् 'तत्पूर्वकम्' अनुमान लक्षण का बोधक पद है। इससे हेतु और साध्य दोनों के [व्याप्ति रूप] सम्बन्ध का दर्शन (प्रत्यक्ष) तथा (पक्ष में) लिंग (हेतु) दर्शन दोनों सम्बद्ध होते हैं। (व्याप्ति रूप) संबंध से सम्बद्ध हेतु और साध्य दोनों के अवलोकन से व्याप्ति विशिष्ट हेतु का स्मरण सम्बद्ध होता है। इस प्रकार हेतु और साध्य के व्याप्ति सम्बन्ध और हेतु के प्रत्यक्ष दर्शन से अप्रत्यक्ष (अज्ञात) साध्य अर्थ का अनुमान सम्पन्न होता है' इस व्याख्या से प्रतीत होता है कि भाष्यकार को तृतीय लिंग परामर्श के द्वारा उत्पन्न होने वाला अप्रत्यक्ष साध्य का ज्ञान ही अनुमान के रूप में अभीष्ट जान पड़ता है जो उक्त तीन पंक्तियों से स्पष्ट होता है।

उद्योतकर ने 'तत्' पद की व्याख्या तीनों वचन—बहुवचन, द्विवचन तथा एक वचन में कर अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। 'तत्पूर्वक अनुमानम्' पद की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि समान जातीय प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा विजातीय स्मृति, संशय आदि अप्रमाणों से भेद ज्ञापित करने के लिए सूत्रकार ने अनुमान को 'तत्पूर्वकम्' कहा है। 'तत्' पद की—'तानि ते तत् पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकम्'—तीन प्रकार से विवेचना की जा सकती है—

१. 'यदा तानीति विग्रहः तदा समस्त प्रमाणाभिसम्बन्धात् सर्व प्रमाणपूर्वकत्वमनुमानस्य वर्णितं भवति। पारम्पर्येण पुनस्तत् प्रत्यक्ष एव व्यवतिष्टते इति प्रत्यक्षपूर्वकत्वमुक्तं भवति।

२. यद्यापि विग्रहः ते द्वे पूर्वे यस्येति, ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य तदिद तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति। कतरे द्वे प्रत्यक्षे ? लिगलिंगीसम्बन्धदर्शनिमाद्य प्रत्यक्षम्, लिंगदर्शनं च द्वितीयम्। बुभुत्सावतो द्वितीयात् लिंगदर्शनात् सस्काराभिव्यक्त्यनन्तरकालं स्मृतिः स्मृत्यनन्तरं च पुर्नलिंगदर्शनमय धूम इति।

यत् इदमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्यमाणं लिंग परामर्शरूपमनुमानं भवति।'

—[न्यायवार्तिक पृष्ठ २९२]

प्रथम विग्रह—'तानि पूर्वं यस्य' स्वीकार करने पर 'तानि' बहुवचन पद से सभी प्रमाणों का ग्रहण होने के कारण अनुमान लक्षण 'सर्वप्रमाणपूर्वकत्व' से अभिसम्बद्ध होगा। ऐसा लक्षण अपनाने पर अनुमान, शब्द अथवा उपमानपूर्वक होने वाले अनुमानों में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होगी। किसी भी प्रमाण से उपपन्न क्यों न हो प्रत्येक अनुमान परम्परा विधया प्रत्यक्षपूर्वक होने से तत्पूर्वक पद की व्याख्या कही जायेगी।

द्वितीय विग्रह में द्विवचन का प्रयोग किया गया है। इसके अनुसार 'ते द्वे पूर्वं यस्य' अर्थात् अनुमान के पूर्व में दो प्रकार के प्रत्यक्ष होते हैं। इनमें ये आद्य प्रत्यक्ष हेतु और साध्य के बीच पाया जाने वाला (व्याप्ति) सम्बन्ध है तथा दूसरा (पक्ष मे) हेतु का दर्शन है। द्वितीय की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि हेतु और साध्य के सम्बन्ध दर्शन के संस्कार की अभिव्यक्ति होने के बाद उनके सम्बन्ध की स्मृति होती है

और स्मृति के पश्चात् पुनः हेतु दर्शन होता है। यही अंतिम प्रत्यक्ष, जो सम्बन्ध दर्शन तथा प्रथम हेतु दर्शन इन दो प्रत्यक्षों द्वारा उत्पन्न होता है, लिंग-परामर्श कहलाता है। आशय यह है कि प्रथमतः हमें रसोईघर में धूम और अग्नि के नियत साहचर्य का दर्शन होता है। पुनः जब हम पर्वत पर उठती हुई सतत धूम रेखा देखते हैं तो धूम और अग्नि के सम्बन्ध दर्शन के संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं जिसके कारण संबंध की स्मृति हरी हो जाती है और उसके पश्चात् अग्नि विशिष्ट (अग्नि सम्बद्ध) धूम का प्रत्यक्ष होता है और उसके अनन्तर अग्नि का निश्चयन हो जाता है। इस व्याख्या में अनुमान को करण अर्थ में गृहीत किया गया है जो अग्नि की प्रमिति या प्रमा की अनुमिति का करण है। यहां पर प्रमाण और उसके फल प्रमिति में भिन्नता रहती है। क्योंकि प्रमाण का विषय हेतु रहता है और फल का विषय साध्य।

१. 'यदा पुनस्तत्पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकमिति, तदा भेदस्या विवक्षितत्वात् लिंगलिंगि सम्बन्ध दर्शनान्तरं लिंगदर्शनसम्बन्ध स्मृतिभि लिंग परामर्शो विशिष्यते, तस्य पूर्वकत्वात्।
कि पुनस्तैरनुमीयते ? शेषोऽर्थ इति। अनुमान मित्यत्र किं कारकम् ? भावः करण वा। यदा भावः तदा हानादिबुद्धयः फलम्। यदा करणं, तदा शेषवस्तु परिच्छेदः फलमिति।

[वही पृष्ठ २९३]

तृतीय विग्रह में 'तत्' पद को एक वचन में गृहीत किया गया है। यहां प्रमाण और उसके फल में विषय भेद न मानकर व्याख्या की गयी है। हेतु और साध्य के सम्बन्ध दर्शन के पश्चात् लिंग दर्शन से उनके सम्बन्ध की स्मृति होती है उसको 'तत्' पद से गृहित कर, लिंग परामर्श को अनुमान कहा गया है जिसके पूर्व हेतु और साध्य का सम्बन्ध होता है। इसी परामर्श के द्वारा शेष अर्थ अर्थात् साध्य की प्रतिपत्ति होती है। अनुमान मे कारक सम्बन्धी जिज्ञासा स्वाभाविक है। कारक भाव अर्थ में है या करण अर्थ मे। यदि उसे भाव अर्थ में गृहीत किया जाये तो हान आदि बुद्धि फल होगी और यदि करण अर्थ में लिया जाए तो 'शेष वस्तु' अर्थात् साध्य विषयक ज्ञान ही फल होगा।

इस प्रकार तीन विग्रह करके वार्तिककार ने भाष्यकार का समर्थन किया जान पड़ता है।

वाचस्पति मिश्र ने 'तात्पर्य टीका' में उद्योतकर कृत विग्रहों का समर्थन करते हुए यह बतलाया है कि **'तत्पूर्वकं अनुमानम्'** में 'तत्' पद से यदि मात्र प्रत्यक्ष का ग्रहण किया जाये और लक्षण को प्रत्यक्षपूर्वक जो हो उसे अनुमान कहा जाये तो उसे लक्षण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषो से ग्रस्त हो जायेगा। जैसे, अनुमान को प्रत्यक्षपूर्वक माना जाये तो उसी प्रकार स्मृति, संशय और भ्रम आदि भी प्रत्यक्षपूर्वक होने के नाते अनुमान कहलाने लगेंगे। अतः अतिव्याप्ति दोष होगा। इसके अतिरिक्त अनुमान पूर्वक अनुमान में जब अनुमित अग्नि के द्वारा उससे उत्पन्न होने वाली उष्णता और आलोक का अनुमान सम्पन्न होगा तब उसमें प्रत्यक्षपूर्वकता नहीं होने के कारण उसमें अव्याप्ति

होगी । इसीलिए संभवतः इन्हीं दोषों से अनुमान को निराकृत करने के लिए 'तत्पूर्वकं' पद की आवृत्ति कर तीन विग्रहों का वार्तिककार ने विधान किया है । जैसे कि प्रथम 'तानि' पद द्वारा प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों को संगृहीत करने के कारण उक्त दोष नहीं होंगे ।

ऐसा मानने पर 'तत्पूर्वकं' का भाष्यकार वात्स्यायन द्वारा सम्मत अर्थ 'लिंग-दर्शनपूर्वकम्' से भी कोई विरोध नहीं होगा । क्योंकि स्वयं वार्तिककार ने भी प्रत्यक्ष-पूर्वकता का आशय परम्परा विधया प्रत्यक्षपूर्वकता से लिया है । अतिव्याप्ति का वारण वार्तिककार के द्वितीय विग्रह 'ते द्वे प्रत्यक्ष पूर्वे यस्य' के आधार पर लिंग परामर्श रूप प्रत्यक्ष मानकर किया जा सकता है । क्योंकि अपने विषय में वह साध्य अर्थ की प्रतीति कराने में अनुमान ही है । यहां पर वाचस्पति मिश्र की एक और विशेषता प्रतिलक्षित होती है । वह, यह कि उद्योतकर द्वारा गृहीत 'प्रत्यक्ष' पद को वे उपलक्षण परक मानते हैं । इस प्रकार 'प्रत्यक्षे' को अनुमाने, शब्द आदि का भी द्योतक समझा जा सकता है क्योंकि लिंग और लिंगी के सम्बन्ध का अनुमान और हेतु के अनुमान तथा शब्द प्रमाण से भी दोनों (हेतु और साध्य) के सम्बन्ध का ज्ञान और हेतु ज्ञान होने पर अनुमान सम्पन्न हो जाता है और उससे अनुमेय अग्नि आदि की प्रतिपत्ति हो सकती है ।

तृतीय लिंग परामर्श की अनिवार्यता लक्षित करते हुए वे आगे कहते हैं कि द्वितीय लिंग दर्शन से व्याप्ति के संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं और उससे व्याप्ति का स्मरण होता है । इस स्मरण की अवस्था में लिंगदर्शन का विनाश हो जाता है । इसलिए दोनों में योगपद्य (एक साथ होना) नहीं बन सकता । इस कारण विनाश के क्षण में दोनों का साथ होने पर भी वे युगपत रूप से परस्पर एक दूसरे के सहायक नहीं बन सकेंगे । इसलिए दोनों प्रत्यक्षों से उत्पन्न तृतीय लिंग परामर्श को मानना अत्यावश्यक है ।

—[तात्पर्य टीका पृ० ३०२-५[

'विग्रहत्रय' का समर्थन करते हुए परिशुद्धिकार उदयन भी कहते हैं —

'न हि व्याप्तिस्मरणमात्रादनुमितिः नापि लिंगदर्शनमात्रात् किं तर्हि ? व्याप्ति-विशिष्टलिंगदर्शनात् ।

न च व्याप्ति विशिष्टं लिंगमेकैकस्योभयस्य वा गोचरः, किं तु स्वतंत्रमुभयमुभ-यस्य । न च स्वतंत्रोभयज्ञानेऽपि विशिष्टज्ञानं भवति ।'

—[परिशुद्धि पृ० ३३२]

अर्थात् अनुमिति न तो केवल व्याप्तिस्मरण से होती है और न केवल लिंग (हेतु) दर्शन से अपितु व्याप्ति विशिष्ट हेतु के ज्ञान रूप तृतीय लिंग परामर्श से उत्पन्न होती है । व्याप्ति और हेतु दर्शन के अपने-अपने स्वतंत्र विषय हैं । यथा व्याप्ति दर्शन का व्याप्ति और हेतु दर्शन का विषय हेतु है । किंतु व्याप्ति विशिष्ट हेतु इस प्रकार न तो व्याप्ति का विषय है न हेतु दर्शन का । आशय यह कि व्याप्ति विशिष्ट हेतु दोनों में किसी भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन पाता है । इस व्याप्ति विशिष्ट हेतु ज्ञान रूप

लिंग परामर्श के अभाव में साध्य विषयक अनुमिति कदापि संभव नहीं है। इसलिए लिंग परामर्श को अनुमिति के लिए मानना अनिवार्य है।

जयन्त भट्ट ने इस प्रसंग में जो व्याख्या की है वह बड़ी विलक्षण और व्यापक है। अनुमान सूत्र की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि सूत्र में प्रयुक्त 'तत्पूर्वकम्' पद की विवेचना करना आवश्यक है। 'तत्' पद सर्वनाम है जो संदर्भानुसार प्रत्यक्ष का वाचक है। **'तत्पूर्वकं अनुमानम्'** पूरे पद का अर्थ यह है कि अनुमान उसे कहते हैं जिसका अस्तित्व प्रत्यक्ष के कारण है। इसीलिए इसे प्रत्यक्ष पूर्वक कहा जाता है किंतु ऐसा मानने पर इसकी उपमान, निर्णय आदि में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वे भी प्रत्यक्षपूर्वक होते हैं। इस दोष का निराकरण करते हुए वे कहते हैं कि अनुमान उसे कहा जाता है जिसके पूर्व में दो प्रकार के प्रत्यक्ष रहते हैं। किंतु दो प्रत्यक्ष से कोई भी दो प्रत्यक्ष गृहीत नहीं किये जा सकते क्योंकि दो विशेष प्रकार के प्रत्यक्ष ही लिये जा सकते हैं। इनमें से प्रथम हेतु और साध्य की व्याप्ति का प्रत्यक्ष है और दूसरे पक्ष में हेतु का प्रत्यक्ष है। ऐसा मानने पर उपमान, निर्णय आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि उनके पूर्व उक्त दो प्रत्यक्षों का रहना आवश्यक नहीं है। यहा पर व्याप्तिग्रहण अनुमान का साक्षात् कारण नहीं है। पक्ष में हेतु की अनिवार्य उपस्थिति (प्रत्यक्ष) ही साक्षात् कारण है।

इस पर आपत्ति उठायी जा सकती है कि इस प्रकार से दो विशेष प्रत्यक्ष मानकर अनुमान लक्षण सर्जन करना सूत्र का तोड़-मरोड़ कर कोई भी अर्थ ज्ञापित करना है। ऐसा नहीं है और समाधान देते हुए **न्यायमंजरीकार** कहते हैं कि हेतु ज्ञान को ही अनुमिति करण माना गया है। हेतु लक्षण स्पष्टत: अंकित करते हुए सूत्रकार आगे कहते हैं कि 'जो अपने साध्य की उदाहरण के साधर्म्य और वैधर्म्य से सिद्धि करता है उसे हेतु कहते हैं' [१।१।३४-३५] यदि हेतु का अन्वय उदाहरण के साथ साधर्म्य (समानता) तथा व्यतिरेक उदाहरण के साथ वैधर्म्य (असमानता) न हो तो वह अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता। अत: उक्त द्विविध प्रत्यक्षों के सिवा हर किसी प्रत्यक्ष को गृहीत नही किया जा सकता। यद्यपि 'वत्' पद से प्रत्यक्ष सामान्य का बोध होता है किंतु उसके मूल में दो विशेष प्रत्यक्ष हैं—हेतु और साध्य की व्याप्ति का दर्शन और पक्ष में हेतु का अनिवार्य प्रत्यक्ष। इस विवेचना से अनुमान लक्षण की सव्यभिचार, विरुद्ध आदि में होने वाली अतिव्याप्ति भी निरस्त हो जाती है। क्योंकि सद् हेतु से ही अनुमिति होती है। पचरूपों से सम्पन्न हेतु ही अपने साध्य की सिद्धि में साधक होता है, असद् हेतु नही। पुन: अनुमिति प्रमात्मक ज्ञान है अत: उसमें हेतु दोष हो ही नहीं सकते।

वाचस्पति मिश्र की भांति **जयंत भट्ट** भी 'द्वे प्रत्यक्षे' पद में प्रयुक्त प्रत्यक्ष को उपलक्षण परक मानकर इससे सभी प्रमाणों को गृहित करते हैं, जैसा कि न्यायवार्तिक के प्रथम विग्रह में उल्लिखित हुआ है। अत: ऐसा मान लेने पर अनुमितिपूर्वक अथवा शब्दपूर्वक भी अनुमान हो सकता है और अव्याप्ति का वारण किया जा सकता है। **कुमारिल भट्ट** ने ठीक ही कहा है—

'यस्य येनार्थ सम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः'

अन्य विद्वान् कुछ और आक्षेप लगाते हैं। वे कहते हैं कि यदि 'तत्' पद से प्रत्यक्ष को गृहीत किया जाये तो प्रत्यक्षपूर्वक (तत्पूर्वक) ज्ञान प्रत्यक्षात्मक ही होगा जो इन्द्रियों से उत्पन्न होता है। परन्तु यह आक्षेप न्याय संगत नहीं जान पड़ता क्योंकि 'तद्' पद से यदि इन्द्रिय प्रत्यक्ष लिया जाय तो 'तत्पूर्वक' का अर्थ होगा हेतु का प्रत्यक्ष अर्थात् हेतु का अव्यवहित प्रत्यक्ष जो चक्षु इन्द्रिय से होता है। यही परोक्ष साध्य अर्थ के ज्ञान का करण भी है। इसलिए अनुमान है। यदि यह कहा जाये कि अनुमान अनुमिति ज्ञान का करण है तो 'तत्' पद का अर्थ प्रत्यक्ष ग्रहण करने पर जो ज्ञान प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से उत्पन्न होगा वह अनुमिति का कारण कैसे हो सकता है? किंतु यह आपत्ति उचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि 'तत्' पद से हेतु का प्रत्यक्ष ही गृहीत होता है, ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। 'तत्पूर्वक' पद से हेतु और साध्य की व्याप्ति को गृहीत किया गया है जो साध्य रूप परोक्ष अर्थ की साधिका है। लक्षण में 'यतः' पद जोड़कर--'यतः तत्पूर्वकं अनुमानम्' लक्षण करने पर भी उक्त दोष आपास्त किया जा सकता है। आशय यह कि अनुमान द्वारा उस अर्थ का बोध होता है जो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष कारणता से परे है।

अन्त में लिंग परामर्श की प्रक्रिया समझाते हुए वे लिंगपरामर्श को 'तत्' पद से गृहीत करते हुए प्रतीत होते हैं। अनुमान का क्रम इस प्रकार है—प्रथम सोपानक्रम में पक्ष में हेतु की उपस्थिति का भान (दर्शन) होता है तत्पश्चात् पाकशाला आदि में गृहीत हेतु और साध्य की व्याप्ति का स्मरण होता है। इसके अनन्तर पक्ष में व्याप्ति विशिष्ट हेतु का दर्शन होकर परोक्ष अज्ञात साध्य अर्थ की अनुमिति होतीहै।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्यायमंजरीकार ने महर्षि गौतम कृत अनुमान लक्षण को वात्स्यायन, उद्योतकर एवं वाचस्पति मिश्र के मतों की तर्क सम्मत स्थापना से सूत्रकार की परिभाषा को निर्दुष्ट घोषित किया है।

— **डॉ० ब्रजनारायण शर्मा**
दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय
सागर [म. प्र.]

न्यायमिश्रित व्याकरण परम्परा में श्री जयकृष्ण तर्कालंकार का योगदान

■ मङ्गलाराम

महामुनियों द्वारा अनुशासित देवभाषा भाषा संस्कृत कहलाती है—संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः ।[1] उस भाषा का व्याकरणशास्त्र अति समृद्ध है और शब्दों के साधुत्व का यह ज्ञान मोक्षप्रद है—

इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ।[2]

वही उस नित्य शब्दब्रह्म रूप परमात्मा की प्राप्ति का उपाय है, क्योंकि इस शब्दब्रह्म की प्रवृत्ति और तत्त्व को जो ठीक समझ सकेगा वही अमृत-ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है—

तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः ।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते ।।[3]

व्याकरणशास्त्र

विद्वानों ने वेद का अत्यंत उपकारक अङ्ग व्याकरण को माना है और दृष्ट-अदृष्ट दोनों प्रकार के फलों को देने के कारण व्याकरणाध्ययन को उत्तम तप भी कहा है।

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ।।[4]

श्रुतिप्रसिद्ध पुण्यतम आलोक और तम को प्रकाशित करने वाली शब्द नामक ज्योति के साधुत्व ज्ञान के लिये व्याकरणशास्त्र ही सरल मार्ग है—

यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः ।[5]

घट पटादि का व्यवहार शब्द से चलता है और शब्दो के निःशेष साधुत्व का ज्ञान बिना व्याकरण के नहीं हो सकता—

तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ।[6]

व्याकरण अपवर्ग का उपाय तथा पापजनक-अपशब्द रूपी वाणी के मलों की चिकित्सा करने वाला है—

तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।[7]

इसी कारण व्याकरण को समस्त विद्याओं में पवित्र तथा आदृत माना है—

पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ।[8]

आन्तर स्फोट रूप ब्रह्म का ज्ञान व्याकरण से ही होता है—

यदेकं प्रक्रिया भेदैर्बहुधा प्रविभज्यते ।
तद्व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ।।[९]

व्याकरण सम्प्रदाय के आचार्यगण व्याकरण शास्त्र को शब्दानुशासन नाम से भी अभिहित करते हैं —

शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृत वेदितव्यम् ।[१०]

अपौरुषेय शास्त्र और शिष्टाचार परम्परा से प्राप्त स्मृतियों को प्रमाण मानकर शिष्ट महर्षियों ने शब्दानुशासन का निर्माण किया है—

तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम् ।
आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम् ।।[११]

शिष्टों की अनादि परम्परा से चला आ रहा आगममूलक व्याकरणशास्त्र आगम शब्दों का साधुत्व बतलाता है- -

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः ।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम् ।।[१२]

व्याकरण वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती नामक तीनों वाणियों का उत्कृष्ट स्थान है—

त्रय्या वाचः परं पदम् ।[१३]

आचार्य पतञ्जलि ने व्याकरण शब्द का अर्थविवेचन करते हुए कहा है कि व्याकरण शब्द का अर्थ लक्ष्य (शब्द) और लक्षण (सूत्र) दोनों हैं—

लक्ष्य लक्षणञ्चैतत्समुदितं व्याकरण भवति ।[१४]

तात्पर्य यह है कि वह शास्त्र जिसमें सूत्रों अथवा अन्य नियमों के द्वारा शब्द की व्युत्पत्ति या शुद्धिविषयक अवबोध करवाया जाये वह शास्त्र व्याकरण कहलाता है । वस्तुतः 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति'[१५] इस भाष्यवचन से भी साधु शब्दों की उपादेयता समुचित रूप से प्रस्फुटित हो रही है।

व्याकरणशास्त्र के भेद

व्याकरणशास्त्र के दो भेद हैं—प्रथम है शब्दसाधुत्वासाधुत्वविषयक और द्वितीय है पदपदार्थसामर्थ्यचिन्तनविषयक । शब्दसाधुत्वासाधुत्वविषयक प्रथम प्रकार के आरम्भ का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, क्योंकि आचार्य पाणिनि से भी पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरण हुए हैं जिनमें शिव, बृहस्पति, इन्द्र, भरद्वाज, वायु, काशकृत्स्न, वैयाघ्रपाद, व्याडि, शाकटायन इत्यादि प्रमुख हैं एव द्वितीय जो पदपदार्थसामर्थ्यचिन्तनपरक प्रकार है उसकी भी अष्टाध्यायी में आचार्य पाणिनि ने 'अवङ् स्फोटायनस्य'[१६] जैसे सूत्रों में सङ्केत देकर प्राचीनता सिद्ध कर दी है।

व्याकरण-दर्शन

यद्यपि संस्कृत व्याकरण के लब्धप्रतिष्ठित आचार्य तो पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ये मुनित्रय ही हैं, तथापि इनमें पाणिनि और कात्यायन ने मुख्य रूप से व्याकरण के प्रक्रिया भाग पर ही अधिक जोर दिया है। अतः इन दोनों आचार्यों की

दृष्टि व्याकरण के दार्शनिक भाग को लेकर व्यापक रूप से खुल नहीं पाई। व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का शुभारम्भ पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य से होता है। आचार्य भर्तृहरि ने अपनी कृति 'वाक्यपदीय' के द्वितीय काण्ड में तो यहां तक कहा है कि महाभाष्य में कोई भी विषय वर्णन से अछूता नहीं रहा, क्योंकि वह ग्रन्थ तो समस्त न्यायों का बीजस्वरूप है---

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥[17]

फिर भी संस्कृत व्याकरण के दार्शनिक भाग का स्वर्णिम काल वसुरात के शिष्य आचार्य भर्तृहरि की अमूल्य कृति 'वाक्यपदीय' से प्रारम्भ होता है जिसमें उन्होंने अपनी कृति का आरम्भ ही शब्दतत्त्व के विवेचन के साथ दिया है तथा समस्त तर्कों को शब्दमूलक माना है--

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः।
शब्दाननुगतो न्यायोऽनागमेष्वनिबन्धनः॥[18]

तदनन्तर तो इस पक्ष को लेकर उत्तरोत्तर विद्वानों ने प्रशंसनीय कार्य करते हुए अनेक कृतियां लिखी हैं; यथा हेलाराज की **वाक्यपदीयप्रकाशव्याख्या**, मण्डन मिश्र की **स्फोटसिद्धि**, श्रीकृष्णभट्ट की **स्फोटचन्द्रिका**, कौण्डभट्ट की **वैयाकरण भूषणसार** प्रभृति।

न्यायमिश्रित व्याकरण-परम्परा

जब संस्कृत व्याकरण के दार्शनिक भाग का इस प्रकार विशद रूप में प्रसार तथा विकास हो रहा था तब व्याकरण के क्षेत्र में ही कतिपय न्यायशास्त्र के आचार्य भी प्रवृत्त होने लगे। इसी बीच नव्य न्याय शैली का भी विकास हुआ जिसने साहित्य, व्याकरण और दर्शन प्रभृति समस्त परम्पराओं को प्रभावित किया। न्यायपरम्परा में व्याकरण को लेकर प्रवृत्त हुए आचार्यों में जगदीश तर्कालङ्कार और गदाधर भट्टाचार्य प्रमुख हैं। व्याकरणशास्त्र में **सिद्धान्तकौमुदी**, **वैयाकरणभूषण**, **वैयाकरणसिद्धान्त-मञ्जूषा**, **बृहच्छब्देन्दुशेखर** प्रभृति साङ्गोपाङ्ग ग्रन्थों की रचना होने पर **लघुसिद्धान्त-कौमुदी**, **परमलघुमञ्जूषा**, **लघुशब्देन्दुशेखर** प्रभृति ग्रन्थों की भी आवश्यकता प्रतीत हुई, उसी प्रकार न्यायशास्त्रीय सिद्धान्तानुसार व्याकरणपरक **शब्दशक्तिप्रकाशिका**, **व्युत्पत्तिवाद** प्रभृति विशालकाय ग्रन्थों के रहने पर भी **कारकचक्र** एवं **सारमञ्जरी** जैसे सारभूत लघुकाय ग्रन्थों की भी महनीय आवश्यकता प्रतीत हुई और आचार्य श्री जयकृष्ण तर्कालङ्कार ने इस दिशा में प्रशंस्य कार्य किया।

विविध विद्या पारङ्गत श्री जयकृष्ण तर्कालङ्कार ने संस्कृत वाङ्मय के अनेक महत्त्वपूर्ण अङ्गों, दिशाओं और क्षेत्रों तथा विशेष रूप से व्याकरण दर्शन को अपने अध्ययन का विषय बनाया। उसे अपनी विविध गम्भीर कृतियों से आलोकित, अलंकृत एवं समृद्ध किया। इनका कार्य व्याकरण जगत् में अपूर्व है।

श्री जयकृष्ण तर्कालङ्कार मुनि परिवार के थे। इन्हें मौनिन् कहा जाता था। इनके दादा का नाम श्रीमौनि गोवर्धन भट्ट था जो प्रकाण्ड पण्डित तथा रामचरणों के सेवक थे। श्री जयकृष्ण के पिता का नाम रघुनाथ भट्ट था जो बहुश्रुत एवं राम के अनन्य भक्त थे। ये चार भाई थे। इनमें महादेव सबसे बड़े थे। उनसे छोटे रामभक्त रामकृष्ण थे। तृतीय स्थान पर जयकृष्ण थे और सबसे छोटे श्रीकृष्ण थे—

यस्तर्कादिसमस्ततन्त्रकमलव्रातप्रसादेष्विव,
प्रत्यक्षप्रमित: पर: किरणवानन्वर्थगोवर्धन:।
सोऽयं पण्डितमण्डलोद्भटरटद्वादीन्द्रवृन्दाग्रणी:,
श्रीरामङ्घ्रिनिषेवक: समजनि श्रीमौनिगोवर्धन ॥
रघुनाथपदारविन्दसेवावशतस्ततस्य बभूव नन्दन:।
रघुनाथ इतीड्यनामगम्यो रघुनाथाङ्घ्रिनिषेवक: सुधी: ॥
बभूवुस्तस्य चत्वारस्तनया: सुनया: बुधा:।
महादेवाभिध: श्रेष्ठो महाभाष्यसुभाषित: ॥
रामकृष्णो द्वितीयोऽसौ रामकृष्णाङ्घ्रिसेवक:।
तृतीयो जयकृष्णोऽस्मि श्रीकृष्णो नाम सूद्भव: ॥[२०]

जयकृष्ण की माता का नाम जानकी था।[२१] जयकृष्ण की प्रसिद्धि कृष्ण नाम से थी।[२२]

श्री जयकृष्ण की जन्मस्थली एवं उनके स्थिति काल तथा अन्य समकालीन विद्वानों के बारे में अद्यावधि कोई निश्चित और प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है, किन्तु इनके अनुज श्रीकृष्ण भट्ट के बारे में पर्याप्त जानकारी उनके द्वारा रचित वृत्तिदीपिका नामक ग्रंथ की पुरुषोत्तमदेव शर्मा विरचित भूमिका में मिलती है—प्रणेता चास्य पुस्तकस्य विपश्चिदपश्चिम: श्रीकृष्णभट्टो मौनीतिनाम्ना विख्याते वंशे समुत्पन्न: श्रीरघुनाथभट्टस्य सुत: श्रीगोवर्धनभट्टस्य च पौत्र:। तदेतत्पुस्तकान्ते निविष्टया पुष्पिकया स्फुटं प्रतीयते। सिद्धान्तकौमुदीवैदिकीप्रक्रियाया: सुबोधिनीटीकाकर्त्तुर्मौनिजयकृष्णस्य चायमनुज: प्रतीयते।[२३] तदनुसार श्रीकृष्णभट्ट का समय पण्डितराज जगन्नाथ के समय से थोड़ा ही पहले अनुमानित होता है, क्योंकि पण्डितराज जगन्नाथ से थोड़े ही पहले पैदा हुए अप्पय दीक्षित के वृत्तिवार्त्तिक से श्रीकृष्णभट्ट कुछ अंशों को उद्धृत करते हैं—'यत्तु दीक्षिता: पदं तावच्चतुर्विधं रूढ यौगिकं यौगिकरूढ योगरूढं चेत्यादि।.........योगरूढ पङ्कजादिपदमित्याहुरित्यन्तम्'[२४] और उनकी आलोचना करते हैं। जबकि पण्डित अप्पय दीक्षित के प्रतिद्वन्द्वी पण्डितराज जगन्नाथ का नाम नहीं लेते। पण्डितराज जगन्नाथ का समय शाहजहां के राज्य के समकालीन (१६२८ ईस्वी से १६५८ ईस्वी) था। शाहजहां के बारे में इतिहासकारों का स्पष्ट कथन है कि २४ फरवरी १६२८ ई० में उसका राज्याभिषेक हुआ[२५क] और १८ जून १६५८ ई० में अपने पुत्र औरंगजेब द्वारा वह कैद कर लिया गया[२५ख] तथा २२ जनवरी १६६६ ई० को मर गया।[२५ग] अत: श्रीकृष्ण का समय विक्रम संवत् १६८५ के आस-पास

निश्चित होता है। ये व्याकरण के उद्भट विद्वान् थे, क्योंकि वे पदे-पदे नैयायिक सिद्धांतों का खण्डन करते हुए एवं वैयाकरण सिद्धांतों का मण्डन करते हुए प्रतीत होते हैं। ये तो आचार्य कोण्ड भट्ट से भी प्राचीन थे—

सम्प्रति सुप्रचलितस्य वैयाकरणभूषणसारस्य प्रणेतुस्त्वयं प्राचीनः स्यात्।
ततस्तदीयं वस्त्वत्र संगृहीतमित्यस्याः शङ्कायाः तु नावकाशः ॥[१५]

इस प्रकार श्रीकृष्ण का समय विक्रम संवत् १६८५ के आस-पास निश्चित होता है तो उनके अग्रज जयकृष्ण का समय इनसे पूर्व विक्रम संवत् १६८० मानना न्याय-सङ्गत प्रतीत होता है।

कृति-परिचय

अफ्रेक्ट ने जयकृष्ण की कृतियों के रूप में आठ ग्रंथों के नाम लिखे हैं। वे हैं—**कारकवाद, लघुकौमुदीटीका, विभक्त्यर्थनिर्णय, शब्दार्थतर्कामृत, शब्दार्थसारमञ्जरी, शुद्धिचन्द्रिका, सिद्धान्तकौमुदी की वैदिकप्रक्रिया पर सुबोधिनी टीका और स्फोट-चन्द्रिका।**[१६] कुञ्जुण्णी राजा ने इनकी कृतियों के रूप में पांच ग्रंथों के नाम और गिनवाये हैं। वे हैं—**सारमञ्जरी**, भट्टोजि दीक्षित की सिद्धांतकौमुदी के वैदिक और स्वरप्रक्रिया भाग पर सुबोधिनी टीका, मध्यसिद्धान्तकौमुदीविलास, लघुसिद्धांतकौमुदी-टीका और शब्दार्थतर्कामृत।[१७]

सारमञ्जरी और सुबोधिनी टीका को छोड़कर शेष ग्रन्थों के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। किन्तु लगभग आधे ग्रंथ व्याकरण शास्त्र के प्रक्रियापक्ष को उजागर करते हैं; यथा सुबोधिनी टीका, मध्यसिद्धांतकौमुदी विलास, लघुसिद्धांत-कौमुदीटीका, कारकवाद और विभक्त्यर्थनिर्णय। सुबोधिनी टीका के प्रारम्भ में श्री जयकृष्ण ने अपना वंश परिचय भी दिया है और नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण के रूप में मुनित्रय को नमस्कार किया है। साथ ही, इस टीका के बारे में लेखक ने यह कामना की है कि यह टीका सदा ही साधु शब्दों का प्रसार करने वाली, असाधु शब्दों के मार्ग को बलात् नष्ट करने वाली और विद्वज्जनों के मन रूपी प्राङ्गण मे विचरण करने वाली होवे—

श्रीमत्सिद्धांतकौमुद्याः स्वरवैदिकखण्डयोः।
नत्वा मुनित्रयं हृद्यां टीकां कुर्वे सुबोधिनीम् ॥
सुशब्दव्रातश्रीकुमुदवनविद्योतनकरी,
सदा सद्व्युत्पत्तिप्रसरणपरमानन्दनकरी।
कुशब्दाध्वान्तस्य प्रसभमभिविध्वंसनकरी,
कृतिर्भूयादेषा बुधजनमनः प्राङ्गणचरी ॥[१८]

प्रक्रियात्मक ग्रन्थों को छोड़कर शेष ग्रन्थ व्याकरणशास्त्र के दार्शनिक पक्ष को उजागर करते हैं; यथा सारमञ्जरी, शब्दार्थतर्कामृत, शुद्धिचन्द्रिका और स्फोटचन्द्रिका।

सारमञ्जरी अत्यन्त संक्षिप्त एवं सारयुक्त ग्रंथ है तथा इसकी भाषा भी नपी-तुली और प्रौढ़ है। इसी कारण सम्भवतः लेखक की अन्तिम रचना प्रतीत

होती है।

श्रीजयकृष्ण के व्याकरणशास्त्र पर इतनी अधिक मात्रा में विहित ये विशिष्ट ग्रंथ इनकी असाधारण विद्वत्ता के उत्कृष्ट प्रमाण हैं। व्याकरणशास्त्र के इस उद्‌भट विद्वान् और इनके द्वारा रचित ग्रथों में से किसी भी ग्रंथ का नाम व्याकरणशास्त्र के इतिहास सम्बन्धी ग्रंथों में न होना सचमुच दुर्भाग्य का विषय है।*

'सारमञ्जरी' पर सिंहावलोकन

श्रीजयकृष्णकृत सारमञ्जरी आस्तिक ग्रंथ है, जिसके आदि में ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये त्रिविध मङ्गलाचरण के अंतर्गत नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया गया है—

हेरम्बचरणद्वन्द्वं विघ्ननाशकरं परम्।
प्रणम्य जयकृष्णेन क्रियते सारमञ्जरी ॥[10]

अर्थात् विघ्नविनाशक शिवपुत्र गणेशजी के उत्तम चरण युगल को प्रणाम करके जयकृष्ण द्वारा सारमञ्जरी नामक ग्रंथ रचा जा रहा है।

प्रस्तुत मङ्गलकारी पद्य के निमित्त आचार्य श्री जयकृष्ण तर्कालङ्कार ने अध्येताओं के समक्ष प्रतिपाद्य विषय का सूक्ष्म रूप से सङ्केत सा कर दिया है। पद्य के 'हेरम्बचरणद्वन्द्वम्' पद में वर्तमान 'चरणद्वन्द्वम्' पद से शब्द और अर्थ की ओर सङ्केत किया है कि व्याकरणशास्त्र के जो सिद्धांत व्यापक रूप में उपस्थित हैं तथा जिन सिद्धांतों को विभिन्न आचार्यों ने व्यापक रूप से वर्णित किया है उन्हीं सिद्धांतों को श्री जयकृष्ण ने सार अर्थात् अत्यल्प शब्दों द्वारा कहा है और इस प्रकार ये व्याकरण-विषयक सिद्धांत 'मञ्जरी' अर्थात् गुच्छे के सदृश पाठक को एकत्र ही प्राप्त हो जाते हैं जिससे अध्येता इन सिद्धांतों को पढ़कर आत्मतोष प्राप्त कर सकता है।

यद्यपि सारमंजरी एक संक्षिप्त रचना है तथापि व्याकरणदर्शन के अध्ययन की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। इस कृति में व्याकरण, न्याय, साहित्य, मीमांसा और वैदिक सिद्धातों को सार रूप में सङ्गृहीत किया गया है जिससे इन सिद्धांतों

---

*भ्रातृ-कृति-परिचय-- श्री जयकृष्ण और उनके तीनों भ्राता भी न्याय और व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित थे, परंतु दुर्भाग्यवश महादेव और रामकृष्ण के किसी ग्रन्थ के बारे में किसी भी प्रकार की कोई जानकारी नहीं मिलती। श्रीकृष्ण भट्ट के दो ग्रन्थों के बारे में जानकारी उपलब्ध है। वे दो ग्रंथ हैं वृत्तिदीपिका और आख्यात-वाद—विस्तरस्त्वस्मद्कृताख्यातवादे द्रष्टव्यः।[11] वृत्तिदीपिका के आरम्भ में अभिधा आदि तीनों वृत्तियों के निरूपण के अनन्तर धात्वर्थादि पर विचार किया गया है। तत्पश्चात् प्रसङ्गवश हिंसालक्षण विचार, नित्यत्व विचार, अपूर्व साधन विचार इत्यादि विषयों को उद्‌घाटित करके सन्नर्थ, कुदर्थ तथा समास-शक्ति का निरूपण किया गया है। अंत में उपसहार के रूप मे स्फोट विचार प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार *चवांलीस पृष्ठीय इस ग्रंथ में साहित्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र और न्यायशास्त्र के मुख्य सिद्धांतों को लेखक ने सुसज्जित करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का स्तुत्य* प्रयास किया है।

की सम्पूर्ण रत्नराशि अद्भुत गरिमा के साथ सुरक्षित है। सारमंजरी में प्रामाणिकता के साथ विभिन्न सिद्धांतों को सम्यक् रूप से विवेचित किया गया है। सारमंजरी के दो नाम और हैं, वे हैं शाब्दबोधप्रकाश और शब्दार्थसारमंजरी।[11] श्रीजयकृष्ण ने अपनी कृति के अंतिम पद्य में 'सारमंजरी' के लिए 'शब्दार्थसारमंजरी' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है कि जयकृष्ण ने यह कृति विविध ग्रंथों को देख कर तथा उन पर पुनः पुनः विचार करके लिखी है। इससे यह सिद्ध होता है कि ग्रंथकार के समक्ष ग्रंथरचना के समय पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों की विपुल ग्रंथराशि विद्यमान थी जिसका सारसंग्रह उन्होंने अपनी कृति में किया है—

आलोक्य विविधग्रंथं विचार्य्य च पुनः पुनः।
कृतेयं जयकृष्णेन शब्दार्थसारमंजरी॥[12]

सारमंजरी का मुख्य उपजीव्य (स्रोत) व्याकरणशास्त्र और न्यायशास्त्र के ग्रन्थ हैं। सम्भवतः व्याकरणशास्त्र और न्यायशास्त्र के सिद्धांतों को एक साथ अत्यल्प शब्दों में प्रतिपादित करने वाला यह प्रथम ग्रंथ है। पूर्व में विद्यमान व्याकरणशास्त्र, न्यायशास्त्र, साहित्य और मीमांसाशास्त्र के अनेक उदाहरणों, प्रत्युदाहरणों, सिद्धांतों और मतमतान्तरों को अंतर्भाव करने वाली इस सारमंजरी में विस्तृत व्याख्यानों एवं शास्त्रार्थों को आलोचनापूर्वक एक या दो पंक्तियों में ही उल्लिखित कर दिया है। उदाहरण के लिए 'काल' जैसे विस्तृत विषय को मात्र चार पंक्तियों में ही निरूपित कर दिया है, जबकि इस विषय को लेकर आचार्य भर्तृहरि ने स्वकृति—'वाक्यपदीय' के तृतीय काण्ड में एक पूरा समुद्देश लिखा है—

तत्र प्रथमतः कालत्रयनिरूपणम्।
वर्तमानध्वंसप्रतियोगित्वमतीतत्वम्॥
वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वं भविष्यत्वम्।
स्वावच्छिन्नकालवृत्तित्वं वर्त्तमानत्वम्॥[13]

काल, आख्यात, शाब्दबोध और निपातादि गम्भीर स्थलों की एकत्र प्राप्ति हेतु सारमंजरी से सरल और संक्षिप्त कृति अद्यावधि वैयाकरणनिकाय में, सम्भवतः अनुपलब्ध है। सारमंजरी में लम्बे चौड़े शास्त्रार्थ नहीं हैं जो प्रायः व्याकरण-सम्प्रदाय और न्यायसम्प्रदाय में पाये जाते हैं। विषय को समझने-समझाने का जो प्रसादपूर्ण, सशक्त और सरल भाषा में प्रयत्न इस कृति में पाया जाता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

ग्रंथकार ने व्याकरण शास्त्र के सिद्धांतों को न्यायशास्त्रीय शैली में प्रस्तुत किया है। इसके लिये ग्रंथकार को न्यायशास्त्रीय सिद्धांतों को आत्मसात् करना आवश्यक था, जो पूर्णरूपेण किया गया है। श्रीजयकृष्ण का अभिमत न्यायशास्त्रीय अधिक प्रतीत होता है; यथा न्यायसिद्धांतमुक्तावली के तत्पुरुष समास स्थल में कहा गया है—

तत्पुरुषे तु पूर्वपदे लक्षणा।[14]

इसी से मिलता-जुलता कथन सारमंजरी में भी मिलता है—

राजपुरुष इत्यत्र पूर्वपदे लक्षणया राजसम्बन्धित्वमवगम्यते ।[14]

इसी भांति श्रीमद् भवानन्द सिद्धांतवागीश भट्टाचार्य कृत 'कारकचक्र' में कारक की परिभाषा के विषय में कहा गया है—

तत्र क्रियानिमित्तत्वं कारकत्वमिति न सामान्यलक्षणम् ।[15]

यही बात सारमंजरीकार ने भी कही है—

तत्र क्रियानिमित्तत्वं कारकत्वमिति वैयाकरणाः तन्न ।[16]

श्रीजयकृष्ण ने शास्त्रान्तरीय लक्षणों की प्रस्तुतिपूर्वक स्पष्ट रूप से अपने मत को भी रख दिया है जिससे ग्रंथकार के स्वतंत्र चिंतन का सामर्थ्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है; यथा—तत्तत्पदबोद्धव्यत्वप्रकारकभगवदिच्छाविषयत्वं वाच्यत्वमिति न्याय-लक्षणम् । अर्थप्रतीत्यनुकूलपदपदार्थसम्बन्धव्यापारः शक्तिरिति काव्यप्रकाशे । अर्थप्रति-पादनानुकूलसम्बन्धविशेषः शक्तिरिति नैयायिकाः । शब्दानां मुख्यव्यापारः शक्तिः । व्याप्रियतेऽभिधीयते शब्दैरर्थोऽनेनेति । सा चास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा विषयत्वम् ।[18]

दुरूह स्थलों का उद्घाटन और विस्फोरण सारमंजरी में भलीभांति किया गया है । यथा—तत्रोपसर्गस्य वाचकत्वं नास्ति किन्तु द्योतकत्वमेव क्लृप्तशक्तिकधातोरेवार्थ-विशेषे तात्पर्यग्रहात् । प्रजयतीत्यादौ जिधातोरेव जये शक्तिः प्रकृष्टजये लक्षणा तत्र प्रकृष्टजयबोधे प्रोपसर्गस्य तात्पर्यग्राहकत्वमात्रमथवा जिधातोरेव प्रकृष्टजये शक्तिः सा च प्रोपसर्गोपसन्धानेनैव बुध्यते तथा चेयमौपसन्धानिकी शक्तिः.........अपि च प्रजय-तीत्यत्र यदि प्रकृष्टजये धातोर्न शक्तिस्तदा प्रकृष्टजयाश्रयत्वेन बोधो न स्यात् प्रकृतार्था-न्वितस्वार्थे बोधकत्वं प्रत्ययानामिति व्युत्पत्तेः श्रवणात् ।[19]

श्रीजयकृष्ण ने विषय की संक्षिप्तता को सुरक्षित रखा है। ये विषय को अत्यल्प शब्दों में प्रस्तुत कर उसे पाणिनीयाष्टाध्यायीवत् सूत्र रूप दे देते हैं । यथा शतृ और शानच् प्रत्ययों के बारे में ग्रंथकार 'शतृशानयोर्वर्तमानत्वमेककर्तृकत्वमेककालीन-त्वञ्च'[20] इतना ही कहते हैं, जिसको पाणिनि ने भी 'लटः शतृशानचावप्रथमासमाना-धिकरणे'[21] इस रूप में कहा है, जिस पर वार्तिककार और महाभाष्यकार ने विस्तार से निरूपण किया है ।[22]

ग्रन्थकार की मौलिक मान्यताएं

श्रीजयकृष्ण सारमंजरी के अनुशीलन से ग्रंथकार की अनेक मौलिक मान्यताएं तथा अवधारणाएं सामने आती हैं । उनमें यहां मुख्य-मुख्य अवधारणाओं का परिचय देना उपयुक्त होगा ।

विधिलिङ् लकार

वैयाकरण परम्परा 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्'[23] इस पाणिनीय सूत्र को आधार मानकर विधिलिङ् लकार को विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न और प्रार्थन इन छः अर्थों में मानती है । इन छः अर्थों में विधि (इष्टसाधनत्व अथवा शाब्दीभावना) की प्रमुखता होने के कारण इस लकार को विधि-लिङ् कहा जाता है । यहां महाभाष्यप्रदीपकार आचार्य कैय्यट का कहना है कि वस्तुतः

विधि रूप अर्थ में ही अन्य निमन्त्रणादि अर्थ भी अंतर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि सभी अर्थों में विध्यर्थ का ही प्राधान्य रहता है—प्रपञ्चार्थं न्यायव्युत्पादनार्थं वार्त्तभेद-माश्रित्य भेदेनोपादानविधिनिमन्त्रणादीनां कृतम्। विधिरूपता हि सर्वत्रान्वयिनी विद्यते।[४४] नैयायिक परम्परा में शब्दशक्तिप्रकाशिकाकार आचार्य श्री जगदीश तर्कालङ्कार ने भी लिङ् लकार के अन्य निमन्त्रणादि अर्थों का उल्लेख नहीं किया है और मात्र विधि अर्थ में ही इस लकार को स्वीकार किया है। उन्होंने कहा कि लट् और लोट् से भिन्न तथा विधि का बोध कराने में समर्थ लकार विधिलिङ् कहा जाता है। विधि से तात्पर्य प्रवर्त्तक में रहने वाले प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार से है तथा इसका विषय प्रवर्त्तकज्ञान है—

लट्लोडन्या विधेर्बोधे समर्था तिङ् लिङुच्यते।
प्रवर्त्तकचिकीर्षाया हेतुर्धीविषयो विधिः॥[४५]

श्रीजयकृष्ण तर्कालङ्कार ने उपर्युक्त परम्पराद्वय से पृथक् अपना स्वतंत्र मत प्रस्तुत करते हुए विधिलिङ् लकार को विधि और सम्भावना इन दो अर्थों में माना है। विधि से तात्पर्य कर्त्तव्यता के उपदेश से है। यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाले को अग्निहोत्र याग करना चाहिए। इस वाक्य के द्वारा कर्त्तव्यता का अपूर्व उपदेश दिया गया है, अतः यह विधिवाक्य है। सम्भावना का अर्थ है कल्पना अर्थात् क्रियाओं में योग्यता का अध्यवसाय करना। यथा—'अपि गिरिं शिरसा भिन्द्यात्' इत्यादि वाक्यों में 'अपि शब्द सम्भावना का द्योतक है। यहां 'गिरिविदारण में यह व्यक्ति समर्थ है' इस प्रकार की सम्भावना द्योतित होती है—विधिलिङो भविष्यत्त्वं विधिः सम्भावना च। विधिः कर्त्तव्यतोपदेशः सम्भावना कल्पनम्।[४६]

परमलघुमञ्जूषाकार नागेशभट्ट ने लिङ् लकार को विधि और आशीर्वाद इन दो अर्थों में माना है। यजेत इत्यादि में विधि अर्थ है, जबकि भूयात् इत्यादि में आशीर्वाद (शुभेच्छा) अर्थ है—लिङो विधिराशीश्चार्थः। यजेतेत्यादौ विधिराशीस्तु भूयादित्यादौ। सा च शुभाशंसनं तदिच्छेति यावत्।[४७]

आख्यातार्थ

लट् इत्यादि दशों लकारों अथवा लकारों के स्थान पर आदेशभूत तिङ् प्रत्ययों को आख्यात नाम से पुकारा जाता है—

लकारस्थानीयतिङामाख्यातपदवाच्यत्वम्।[४८]

लट् आदि लकारों की संख्या दस हैं। प्रत्येक लकार में प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा उत्तम पुरुष के एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में नौ प्रत्ययों का प्रयोग होता है। इस प्रकार तिबादि प्रत्यय नब्बे स्थानों पर विभक्त हो जाते हैं। पुनः आत्मनेपद और परस्मैपद के रूप में द्विधा विभाजन होने के कारण इन तिङ् प्रत्ययों की संख्या भिन्न-भिन्न लकारों को प्राप्त करके एक सौ अस्सी तक पहुंच जाती है। ये सब आख्यात कहलाते हैं—लकारस्थानीयानां लट्लोडादिदशविधलकारप्रतिपाद्यानां तिङां तिङादिसाशीतिशतसंख्यकप्रत्ययानामाख्यातपदवाच्यत्वमाख्यातपदप्रतिपाद्यत्वमित्यर्थः।[४९]

आख्यात का स्वरूप नव्य न्यायशैली में आचार्य आशुबोध विद्याभूषण ने इस प्रकार बताया है—

आख्यातत्वञ्च धात्वर्थावच्छिन्नस्वार्थयत्नविधेयताकान्वयबोधसमर्थशब्दत्वम् ।[५०]

वादत्रय

आख्यातार्थ के बारे में तीन वाद प्रसिद्ध हैं वैयाकरणवाद, मीमांसकवाद और नैयायिकवाद। वैयाकरण लकारस्थानीय तिङ् प्रत्ययों का अर्थ कर्ता, कर्म, संख्या और काल मानते हैं—आश्रये तु तिङः स्मृताः[५१], अपि च, तिङर्थः कर्तृकर्मसंख्याकालाः।[५२] मीमांसक आख्यात अर्थात् तिङ् का अर्थ व्यापार मानते हैं– तत्राख्यातत्वं दशलकारसाधारणं लिङ्त्वं पुनर्लिङ्मात्रे उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते।[५३] व्यापार को ही भावना, अभिधा तथा साध्यत्वरूप से प्रतीयमान क्रिया इत्यादि नामान्तरों से पुकारा जाता है—व्यापारस्तु भावनाभिधा साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया।[५४] भावना का लक्षण है—भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः।[५५] भावना के दो भेद हैं शाब्दी तथा आर्थी। ये दोनो ही प्रकार की भावनाएं आख्यात का अर्थ मानी जाती हैं। प्राचीन नैयायिक तिङ् का अर्थ कृति मानते हैं। इनके मत में शाब्दबोध प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक होता है—प्रथमान्तार्थविशेष्यक एव बोधः। ओदनकर्मकपाकानुकूलकृतिमांश्चैत्र इति नैयायिकाः।[५६]

त्रिविध प्रयोग

तिङ् के भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करने पर भी त्रिविध प्रयोग स्थलों के बारे में कोई मतभेद नहीं हैं। वे हैं कर्ता, कर्म और भाव। अर्थात् तिङ् प्रत्ययों का प्रयोग कर्तृवाच्य (पचति) कर्मवाच्य (पच्यते) और भाववाच्य (सुप्यते) मे होता है—स चाख्यातस्त्रिविधः कर्तृविहितः कर्मविहितो भावविहितश्चेति[५७], स चाख्यातः पूर्वोक्तः आख्यातपदवाच्यस्तिङादि त्रिविधः तिस्रः त्रयो वा विधाः प्रकाराः भेदा इति यावद्यस्य स त्रिविधः त्रिविधत्वेन व्यवह्रियमाण इत्यर्थः।[५८]

नैयायिक चूंकि तिङ् का अर्थ कृति स्वीकार करते हैं तथा वाक्य में प्रथमान्त पद को प्रधान मानते हैं अतः वे आख्यात की व्याख्या कृञ् धातु के द्वारा करते हैं। जैसे 'गच्छति' शब्द की व्याख्या 'गमनं करोति' इस विवरण द्वारा करते हैं। यहां गम् धातु का अर्थ 'गमन' तथा तिप् प्रत्यय का 'करोति' अर्थ किया गया है अतः तिङ् प्रत्यय कृति का ही बोधक माना जाता है—तथा चाख्यातसामान्यस्य यत्नापरनामकृतौ शक्तिः तस्याञ्चानुकूलतासम्बन्धेनधात्वर्थस्य विशेषणतया धात्वर्थावच्छिन्नयत्नो बोध्यते शाब्दबोधे तादृशयत्नस्य विधेयतया भानात्। तादृशयत्नविधेयताकान्वयबोधसमर्थः शब्दः तिङ्प्रत्ययादिर्बोध्यः।[५९]

वैयाकरण चूंकि आख्यात की कर्ता में शक्ति मानते हैं इसलिये 'चैत्रो गच्छति' इत्यादि स्थलों में चैत्र के साथ गम कर्ता का अभेद सम्बन्ध भासित होता है तथा 'गमनकर्त्रभिन्नश्चैत्रः' ऐसा शाब्दबोध होता है—

यथा वैयाकरणैराख्यातस्य कर्तरि शक्तिरुच्यते।
चैत्रः पचतीत्यादौ कर्त्रा सह चैत्रस्या भेदान्वयः॥[६०]

किंतु इस पर नैयायिकों का कहना है कि तिङ् का अर्थ कर्ता मनाने पर गौरव-दोष होता है, अतः आख्यात की शक्ति कृति (यत्न) अर्थ में मानने में ही लाघव है—

तच्च गौरवात्त्यज्यते।[11]

सारमञ्जरीकार आचार्य श्री जयकृष्ण इस प्रसङ्ग में न्यायमतानुसारी प्रतीत होते हैं। उनका कहना है कि कर्ता में विहित तिङ् प्रत्यय की शक्ति कृति में ही स्वीकार करनी चाहिए। कृति विशिष्ट कर्त्ता में शक्ति मानने से गौरवदोष होता है—

कर्तृविहिताख्यातस्य कृतावेव शक्तिः कृतित्वरूपशक्यतावच्छेदकलाघवान्न कर्तरि।[12]

'कृति' प्रयत्न नामक एक गुण है जो कि आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।[13]

कर्ता कृतिमान् कहलाता है। कृति और कृतिमान् में कृतिलघु भूत है, कृतिमान् गुरुभूत है, अतः 'चैत्रः पचति' का शाब्दबोध होगा 'पाकानुकूलकृतिमान् चैत्रः।' इसके अतिरिक्त कृति और कर्ता में शक्यतावच्छेदक की दृष्टि से भी क्रमशः लाघव-गौरव प्रतीत होता है। शब्द को शक्त कहा जाता है तथा अर्थ को शक्य कहा जाता है। शक्ति शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को कहा जाता है जो कि 'इदं पदमेतदर्थकं बोधकं भवतु' इस प्रकार अर्थप्रकारक पदविशेष्यक अथवा 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः' इस प्रकार पदप्रकारक अर्थविशेष्यक ईश्वरेच्छाविशेष हुआ करती है—

तेषु कर्तृविहितकर्मविहित भावविहिताख्यातेषु मध्ये कर्तृविहिताख्यातस्य कृतावेव यत्ने एव शक्तिः। एवकारेण कृतिविशिष्टे शक्तिर्व्यवच्छिद्यते। शक्तिश्चेदं पदमिमर्थं बोधयत्वित्यस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारी वेश्वरेच्छा। पदज्ञानान्तरं तादृशेच्छारूपशक्तिज्ञानादर्थबोधो भवति तादृशशक्तिज्ञानञ्च व्याकरणकोषादितो भवति। तथा हि 'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च। वाक्यशेषाद्विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः' इति। तदुदाहरणानि भाषापरिच्छेदादिग्रन्थेऽनुसन्धेयम्। कृतित्वावच्छिन्ने शक्तिस्वीकारे युक्तिमाह कृतित्वरूपेति कृतित्वस्य जातिरूपतयानुगतत्वेन तस्य शक्यतावच्छेदकत्वे लाघवमतः कर्तरि कृतिमिति शाब्दिकाभिमते इत्यादिर्न शक्तिः कल्पनीयेति शेषः।[14]

तिङ् की शक्ति यदि कर्त्ता में मानी जायेगी तो शक्य होगा कर्त्ता अर्थात् कृतिमान् और शक्यता कृतिमान् में ही मानी जायेगी, अतः कृतिमान् में दो धर्म होंगे शक्यता और कृति। शक्यस्वरूप कृतिमान् का शक्यतावच्छेदक होगा कृतिमत्त्व (कृति), जो कि भिन्न-भिन्न कर्त्ताओं में भिन्न-भिन्न होने के कारण अनन्त कृतियां मानी जायेंगी। अतः गौरवदोष स्पष्ट है। इसके विपरीत नैयायिक मत में आख्यात की शक्ति जब कृति में ही मानी जायेगी तो शक्यावच्छेदक केवल कृतित्व होगा। कृतित्व जातिस्वरूप है जो सभी कृतियों में अनुगत रूप से रहता है। अतः जहाँ वैयाकरणमत में शक्यतावच्छेदक अनन्त कृतियां माननी पड़ती हैं। वहीं नैयायिक मत में शक्यतावच्छेदक के रूप में कृतित्व स्वरूप एक ही जाति को मानने में लाघव है—

शक्यतावच्छेदिकायाः कृतेः यत्नरूपायाः अननुगमात्प्रतिव्यक्तिभेदेन नानात्वात् नाना-

व्यतिरेकेण शक्यतावच्छेदकत्वकल्पने गौरवादिति भावः ।

'चैत्रः पचति' इत्यादि स्थलों में तिङ् का अर्थ कर्ता नहीं मानने पर कर्ता के अनुक्त हो जाने से 'अनभिहिते' इस अधिकार सूत्र के द्वारा अनुक्त कर्ता में तृतीया होने से 'चैत्रेण पचति' इत्यादि अनिष्ट प्रयोगों की आपत्ति होने लगेगी—यह आपत्ति नहीं दी जा सकती। कारण कि आख्यात स्वरूप तिङ् प्रत्यय के कृति से अन्य अर्थ एकत्वादि संख्या का अन्वय चैत्रस्वरूप कर्ता (नामार्थ) के साथ विवक्षित है। अतः कर्तृस्वरूप चैत्रगत नामार्थ एकत्व संख्यारूप आख्यातार्थ के द्वारा उक्त हो जाता है—अयम्भावः कर्तृकरणयोस्तृतीयेति पाणिनिसूत्रेऽनभिहिते कर्त्तरि करणे च तृतीयाविधानादाख्यातप्रत्ययस्य कृतौ शक्त्या कृतिमात्राभिधायकत्वे चैत्रः पचतीत्यादौ तिङा कृतिमात्राभिधाने कर्तुरनभिधानेन कर्तृवाचकचैत्रपदोत्तरं तृतीयपत्तिरिरुक्तानुशासनबलादिति। तच्छङ्कां निरस्यति कर्तृगतेत्यादिना। तथाहि *यत्राख्यातेन कर्तृगतसंख्याया* अनभिधानं कर्तृविशेष्यकसंख्याप्रकारकान्वयबोधस्तत्र तादृशान्वयबोधजनकलकारादिसमभिव्याहृतकर्तृवाचकपदोत्तरं प्रथमा भवति। *यथा* चैत्रः पचतीत्यादौ लकारस्थानीयतिपा चैत्रविशेष्यकैकत्वसंख्याबोधनात्तादृशलकारसमभिव्याहृतचैत्रपदोत्तरं प्रथमा ।

'चैत्रः भोजनं पचति'

यहां पचति क्रिया पद के अंतर्गत प्रयुक्त होने वाले तिङ्प्रत्ययार्थ 'संख्या' के द्वारा चैत्रगत एकत्व का अभिधान हो जाता है और भोजनगत एकत्व का अभिधान नहीं होता। इस प्रकार यहां संख्याविधान के नियामकता की आपत्ति हो सकती थी लेकिन 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' एवं 'अभिधानन्तु प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः' इत्यादि नियामक शास्त्रों के उपस्थित रहते यह अव्यवस्था टल जाती है। कर्ता में विहित तिङादि प्रत्ययों के द्वारा कर्तृगत संख्या का बोधन होने के कारण कर्तृगत संख्या के समान तिङादि भी संख्यायुक्त होते हैं। कर्म में विहित तिङादि कर्मगत संख्या के बोधक होने के कारण कर्म के समान संख्या से युक्त होते हैं—यत्राख्यातेन *कर्तृगतसंख्याया अनभिधानं कर्तृविशेष्यकसंख्याप्रकारकान्वयबोधस्यजननं तत्र तादृशान्वयबोधाजनकलकारादिसमभिव्याहृतकर्तृवाचकपदोत्तरं* तृतीया भवति। यथा चैत्रेण पच्यते तण्डुल इत्यादौ *लकारस्थानीयतेप्रत्ययेन चैत्रविशेष्यकैकत्वसंख्याया अबोधनात्* परन्तु कर्मवाचकतण्डुलगतैकत्वसंख्याबोधनात्तादृशलकारसमभिव्याहृतचैत्रपदोत्तरं तृतीया। तत्रानुशासनं कतृकरणयोस्तृतीयेति पाणिनिः। तादृशसूत्रस्योक्तरूपार्थ एव तात्पर्यम्। मुग्धबोधे तु साधनहेतुविशेषणभेदकं घं कर्ता घस्त्रीति व्यवस्थापितत्वादिति। तथा हि कर्तृविहितास्तिङादयः कर्तृगतसंख्याया एव बोधनात्तादृशसंख्यायासमानसंख्यकवचनाः भवन्ति कर्मविहितास्तिङादयः कर्मगतसंख्याया बोधनात्तादृशसंख्यायासमानसंख्यकवचना भवन्तीति संख्याबोधनाबोधनाभ्यां प्रथमातृतीययोर्नियमनादित्यर्थः ।

'रथो गच्छति'

इत्यादि स्थलों में मीमांसक मतानुसार तिङ् का अर्थ भावना अर्थात् व्यापार

मानने पर गम् प्रभृति धातुओं के 'उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापार' इस अर्थ में एक 'व्यापार' तिङ् का अर्थ और जुड़ जाने पर 'उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारानुकूलव्यापार' इस प्रकार गुरुभूत होने लगेगा। यद्यपि व्यापार क्रियास्वरूप है, तथापि क्रिया का लक्षण 'संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणत्वम्' भेदघटित होने के कारण तथा असमवायिकारणता से घटित होने के कारण महान् गुरुभूत होने से महागौरव दोष उपस्थित हो जाता है जबकि तिङर्थ 'कृति' मानने पर इस गौरवदोष से बचा जा सकता है—ननु निरुक्तदोषादाख्यातस्य कर्तरि शक्तिर्मा भवतु परन्तु व्यापारे शक्तिकल्पने का क्षतिः ? इत्यत आह—एवमित्यादिना। एवं शक्यतावच्छेदककृतेरननुगमत्वादाख्यातस्य कर्त्तरि न शक्तिस्तथेत्यर्थो व्यापारेऽपि न शक्तिः कल्पनीयेति शेषः। तत्र हेतुमाह कृत्यादि इति। कृत्यादिसाधारणस्य यावद् व्यापारगतस्य व्यापारत्वस्यानुगतैकधर्मत्वाभावेन तत्राख्यातशक्यतावच्छेदकत्वकल्पने महागौरवादिति भावः।[11] यद्यपि अचेतन रथ में कृति (यत्न) असम्भव है क्योंकि कृति (यत्न) तो चेतना का धर्म है तथापि कृति का केवल व्यापार अर्थ न मानकर निरूढा लक्षणा के द्वारा व्यापाराश्रय अर्थ करने पर उक्त असङ्गति का निराकरण हो जाता है—तथा च रथो गच्छतीत्यादौ उत्तरदेशसंयोगरूपधात्वर्थस्यानुकूलतासम्बन्धेनाख्यातार्थव्यापारे तत्र च वर्तमानत्वरूपतदर्थस्यान्वयेन गमनानुकूलवर्तमानव्यापाराश्रयो रथ इति।[12]

विशेष स्थल

आख्यात के विशेषार्थक स्थल 'करोति, द्वेष्टि, यतते, जानाति, इच्छति' इत्यादि हैं जहां नैयायिक शक्यार्थ के आधार पर अन्वयबोध की बाधा उपस्थित होने पर लक्ष्यार्थ के द्वारा शाब्दबोध का निर्वाह करते हैं। अर्थात् आख्यातार्थ कृति का अन्वय बाधित होने पर भी तिङ् के अर्थ संख्या और काल कर्त्ता में तथा संख्या और धात्वर्थ में वर्तमानत्वादि काल का अन्वयबोध होने में कोई बाधक नहीं है। अतएव जहाँ सविषयक पदार्थों का अभिधान करने वाली धातुओं के प्रयोगस्थल 'चैत्रः कटं करोति' इत्यादि में 'कटम्' पद में प्रयुक्त होने वाला कर्मबोधक अम् प्रत्यय सविषयक अर्थ वाला है वहां पर 'कटविषयकवर्तमानकृत्याश्रयश्चैत्रः' ऐसा शाब्दबोध होता है—सविषयकपदार्थाः ज्ञानेच्छाकृतिद्वेषरूपाः 'ज्ञानेच्छाकृतिद्वेषाः सविषयकाः' इति शास्त्रात्तदभिधायिनस्तद्वाचका ये धातवः कृप्रभृतिधातवस्तदुत्तरं तदुत्तरवर्तिनः कर्तृविहिताख्यातस्य कर्त्तरि वाच्ये विहिताख्यातप्रत्ययस्येत्यर्थः। यथेत्यादि—करोतीत्यादौ कृत्यादेः कृतिप्रयोज्यत्वाभावेनाख्यातार्थकृतौ धात्वर्थकृतिद्वेषयत्नज्ञानेच्छादेरनुकूलतासम्बन्धेनान्वयबाधादाश्रयत्वरूपलक्ष्यार्थमादायान्वयबोधनिर्वाहयत्नस्यापि कृतिपर्यायकतया सविषयकत्वं ग्राह्यम्। इदन्तु बोध्यमाख्यातस्य कृतिरूपार्थान्वियस्य बाधेऽपि संख्याकालरूपतदर्थयोः कर्त्तरि संख्यायां धात्वर्थे च वर्तमानत्वादिकालस्यान्वयबोधेऽपि न कोऽपि बाधकः। एवञ्च चैत्रः कटं करोतीत्यादौ सविषयकपदार्थाभिधायिधातुकस्थले कर्मप्रत्ययस्य सविषयकत्वार्थकतया कटविषयकवर्त्तमानकृत्याश्रयश्चैत्रः। एवं ज्ञानेच्छादिस्थलेऽप्यूह्यम्।[13]

'घटो भवति'

इत्यादि स्थलों में तिङर्थ कृति तथा लक्ष्यार्थ आश्रय को छोड़कर तिङ् की लक्षणा

प्रतियोगित्व में की जाती है। फलतः नश् धातु का अर्थ हुआ नाश, जो कि उत्पत्तिमान का अभाव रूप है। उससे निरूपित प्रतियोगिता घट में रहती है, क्योंकि 'यस्याभावः स प्रतियोगी' यह नियम है। प्रकृत में घटनाश हुआ घटाभाव, उसका प्रतियोगी बना घट, प्रतियोगिता रहेगी घट में, उस प्रतियोगिता का आश्रय बन जायेगा घट। अतः शाब्दबोध सुसम्पन्न हो जायेगा—नश्यतीत्यादावाख्यातार्थकृतेरन्वयबाधादाख्यातस्य प्रतियोगित्वे लक्षणा बोध्या न तु पूर्ववदाश्रयत्वे लक्षणा। तथात्वे तु प्रतियोगिसमवायिदेशे एव ध्वंसप्रागभावयोराश्रयत्वस्वीकाराद्घटसमवायिकपाले एव नाशाश्रयत्वस्य सत्त्वेन घटे तद्बाधाद्घटो नश्यतीत्यादौ शाब्दबोधानुपपत्तिः स्यादिति भावः। एवञ्च घटो नश्यतीत्यादौ धात्वर्थनाशस्योत्पत्तिमदभावरूपतया तन्निरूपितप्रतियोगित्वं घटे वर्तते। तथा च नाशप्रतियोगित्वाश्रयो घट इति शाब्दबोधः। अतएवाख्यातस्य प्रतियोगित्वे लक्षणास्वीकारादेव।"[४]

कर्तृवाच्य प्रयोग

श्री जयकृष्ण तथा सारमञ्जरीव्याख्याकार के मतानुसार शाब्दबोध में कर्तृविहित आख्यात की शक्ति कृति में, वर्तमानत्वादि काल में तथा एकत्व इत्यादि संख्या में है। वर्तमानत्वादि काल का अन्वय कृति में तथा एकत्वादि संख्या का अन्वय कर्ता में होता है। इस प्रकार 'कर्त्ता में विहित तिङादि प्रत्यय कर्तृगत संख्या के समान संख्या वाले प्रयुक्त होते हैं, यह नियम भी सङ्गत हो जाता है। यद्यपि कृति भी तिङ् का अर्थ है और वर्त्तमानकाल भी तिङ् का अर्थ है। दोनों एक ही पद के अर्थ होने के कारण परस्पर विशेष्य विशेषण भाव के रूप में अन्वित नहीं होने चाहिये, क्योंकि यह नियम है 'एकपदोपात्तपदार्थयोर्न विशेष्यविशेषणभावेनान्वयः'; तथापि सार्वत्रिक न होने के कारण यह व्युत्पत्ति यहां स्वीकार्य नहीं है और न ही इस व्युत्पत्ति को स्वीकार करने में कोई प्रमाण है और न अनुभवसिद्ध है—ननु शाब्दबोधे आख्यातार्थानां कृतिकालसङ्ख्यानां कस्य कुत्रान्वयः इत्याकाङ्क्षायामाह यत्रेति—तत्र तेषु मध्ये इत्यर्थः। अन्वयश्चास्य प्रथमान्तपदद्वये बोध्यः। कृतावेवेत्येवकारेण क्रियाया व्यवच्छेदोऽन्यथा यदा पुरुषः पाकानुकूलयत्नशून्यः किन्तु तदधीनाग्निसंयोगादिरूपः पच्याद्यर्थो विद्यते तदा पाकक्रियाया वर्त्तमानत्वेनायं पचतीति प्रयोगापत्तिः स्यात्। कर्त्तर्य्येवेत्येवकारेण कृत्यादिव्यवच्छेदोऽन्यथा गुणे गुणानङ्गीकाराद्गुणस्वरूपकृतौ गुणरूपसंख्याया अबाधितान्वयबोधासम्भवः स्यात्। एवञ्च कर्तृविहितास्तिङादयः कर्तृगतसंख्यासमानसंख्यकवचना भवन्तीति नियमोऽपि सङ्गच्छते। नन्वाख्यातार्थकृतावाख्यातार्थवर्त्तमानत्वस्य विशेषणतयान्वये एकपदोपात्तपदार्थयोर्न विशेष्यविशेषणभावेनान्वय इति व्युत्पत्तिविरोधः स्यात्? इत्यत आह—ऐकात्यादि—एकस्मात्पदादुपात्तयोर्गृहीतयोर्ज्ञानविषयतापन्नयोः पदार्थयोरित्यर्थः। उक्तव्युत्पत्तिस्वीकारेऽनुभवात्मकप्रमाणमपि नास्तीत्याह—अननुभवाच्चेति।"[५]

कर्मवाच्य प्रयोग

तत प्रभृति कर्मवाच्य में विहित तिङ् की शक्ति फल में है। फल धात्वर्थ का अवच्छेदक है। यथा गम् धातु का अर्थ है संयोगात्मक फलानुकूल स्पन्द रूपी व्यापार।

एतादृश धात्वर्थ में अंशभूत व्यापार में अनुकूलता सम्बन्ध से संयोग रूप फल का प्रकारता के रूप में शाब्दबोध में भान होता है अतः संयोग रूपी फल धात्वर्थावच्छेदक कहलाता है। फलतः कर्मविहित आख्यात की फल में शक्ति होने के कारण ही गम् प्रभृति धातुएं अनुकूलता सम्बन्ध से संयोगादि विशिष्ट व्यापार की बोधक होने के कारण सकर्मक कहलाती हैं। इसलिये फलावच्छिन्न व्यापार की बोधक जो धातुएं नहीं होंगी वे अकर्मक कहलाती हैं। यथा 'घटोऽस्ति' इत्यादि स्थलों पर अस् प्रभृति धातुएं सत्तामात्र की बोधक होने के कारण 'अस भुवि' अकर्मक कहलाती है—कर्मविहिताख्यातस्य कर्मणि वाच्ये विहितस्य शब्दशास्त्रनुशिष्टस्याख्यातस्य तेप्रभृत्यात्मनेपदिप्रत्ययस्य फले धात्वर्थतावच्छेदकीभूते फले इत्यर्थः। धातूनां फलावच्छिन्नव्यापारबोधकत्वादिति भावः। न कर्मणि धात्वर्थतावच्छेदकीभूतफलाश्रये शक्तिर्न कल्पनीया गौरवादिति शेषः। फलन्त्वितिधात्वर्थतावच्छेदकं धात्वर्थांशेऽनुकूलतासम्बन्धेन प्रकरीभूतम्। तथाहि गम्यते इत्यादौ गमिधातोः संयोगात्मकफलानुकूलस्पन्दरूपव्यापारवाचितया तादृशधात्वर्थांशव्यापारेऽनुकूलतासम्बन्धेन संयोगात्मकफलस्य प्रकारतया शाब्दबोधे भासते इति संयोगस्य धात्वर्थतावच्छेदकत्वं बोध्यम्। एवमन्यत्राप्यनुसन्धेयम्। अतएवेति—कर्मविहिताख्यातस्य फलशक्तत्वादेवेत्यर्थः गमिधातोः पच्धातोश्चानुकूलतासम्बन्धेन संयोगविशिष्टव्यापारबोधकतया विक्लृप्तिविशिष्टव्यापारबोधकतया च सकर्मकत्वं बोध्यम्। तदबोधकत्वे च फलावच्छिन्नव्यापारबोधकत्वे च यथा घटोऽस्तीत्यादौ अस्धातोः सत्तामात्रबोधकत्वादेवाकर्मकत्वं बोध्यम्।"[१]

कर्मवाच्य में विहित तिङ् प्रत्यय की फल में, वर्त्तमानत्वादि काल में तथा एकत्वादि संख्या में शक्ति होती है। वाक्यार्थबोध में वर्त्तमानत्वादि काल की फल में तथा एकत्वादि संख्या की फलाश्रय कर्म में ही प्रतीति होती है। अतः कर्म में संख्या का अन्वय होने के कारण ही कर्मगत संख्या के समान ही क्रियापद में संख्या का प्रयोग होता है—कर्माख्यातस्य कर्मणि वाच्ये विहितस्याख्यातप्रत्ययस्य फले धात्वर्थावच्छेदकीभूते फले वर्तमानत्वादौ वर्तमानकालिकवृत्तित्वादौ तत्तच्छब्दप्रयोगाधिकरणकालवृत्तित्वादाविति यावादादिपदाद्वर्तमानध्वंसप्रतियोगिकालवृत्तित्वरूपातीतत्वस्य वर्तमानप्रागभावप्रतियोगिकालवृत्तित्वरूपभविष्यत्वस्य च परिग्रहः। एकत्वादौ एकत्वद्वित्वादिसंख्यायां शक्तिः बोध्यते इति शेषः। प्रतीयते इति—तथा च कर्मणि संख्यान्वयादेव तादृशसंख्यासमानसंख्यकवचनानि क्रियापदे भवन्तीति भावः। कर्मगतसंख्याभिधानेन कर्मविहितप्रत्ययात्कर्मगतसंख्यायाः प्रतिपादनेन द्वितीयाया बाधितत्वादिति तथा हि कर्मणि द्वितीया पाणिनिसूत्रेऽनभिहिते कर्मणि द्वितीयाविधानेन कर्मगतसंख्याभिधाने एव कर्मणि द्वितीया भवतीति तस्य तात्पर्यम्। इत्थं च कर्मगतसंख्या भिधानमेव द्वितीयाबाधकमित्यपि ततो व्यज्यते।"[२]

भाववाच्य प्रयोग

भाववाच्य में आख्यात के द्वारा शुद्ध धात्वर्थ व्यापार ही अर्थ होता है, कृति और फल इत्यादि तिङ् के अर्थ नहीं होते। यद्यपि भावाख्यातस्थल में प्रत्यय का अर्थ धात्वर्थस्वरूप ही होने के कारण उद्देश्य विधेय भाव का अन्वय 'घटो घटः' के समान नहीं हो सकेगा, तथापि जिस प्रकार करोति क्रियापद के शाब्दबोधस्थल में आख्यात

का अर्थ भी कृति में है और कृ धातु का अर्थ भी कृति होने के कारण आख्यातार्थ कृति का वहां वैयर्थ्य मान लिया जाता है उसी प्रकार भावप्रत्ययस्थल में भी भाव-प्रत्ययार्थ स्वरूप धात्वर्थ का वैयर्थ्य मान लिया जायेगा—

भावविहिताख्यातस्य भाववाच्ये विहिताख्यातप्रत्ययस्य तेप्रभृत्यात्मनेपदिप्रत्ययस्य धात्वर्थे एवेत्येवकारेण कृतिफलादेर्व्यवच्छेदः। तथा च यद्धातूत्तरं भावप्रत्ययस्तद्धातोरर्थे एव भावप्रत्ययस्य शक्तिः। नन्वेवं तज्जन्यशाब्दबोधे धात्वर्थयोर्द्विधा भानेनोद्देश्यता-वच्छेदकविधेययोरैक्ये शाब्दबोधस्वीकाराद्घटो घट इत्यादिवत्तयोरनन्वयापत्तिः? इति चेन्न। यथा करोतीति शाब्दबोधस्थले आख्यातार्थकृतेर्धात्वर्थस्वरूपतयाख्यातार्थकृते-र्वैयर्थ्यं तथा भावप्रत्ययस्थलेऽपि भावप्रत्यार्थरूपधात्वर्थस्य वैयर्थ्यस्वीकारात्। तत्र प्रमाणं मीमांसाशास्त्रं यथा 'सम्भेदेनान्यतरवैयर्थ्यम्' इति। सम्भेदेनैकरूप्येण प्रकृति-प्रत्ययार्थयोरभेदेनेति यावदन्यतरस्यान्तरार्थस्य वैयर्थ्यमिति तस्यार्थः।[७८]

भावप्रत्यय का वैयर्थ्य होने पर भी उसका प्रयोग करना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना पद नहीं बनता[७९] और बिना पद के शास्त्र में प्रयोग करने की परम्परा नहीं है।[८०] भाववाच्यस्थल में तिङर्थ संख्या का अन्वय कहीं पर भी नहीं होता, क्योंकि भाववाच्य में प्रथमान्त पद की उपस्थिति कहीं भी नहीं मिलती। भाववाच्य में मात्र प्रथम पुरुष एकवचन में क्रियापद का प्रयोग होता है। वह एक वचन भी केवल प्रयोग-साधुत्व के लिए होता है न कि किसी में अन्वित होने के लिए—

न च भाव प्रत्ययार्थस्य वैयर्थ्यध्रौव्ये कथं तत्प्रत्ययप्रयोगः? इति वाच्यं 'शास्त्रे नापदं प्रयुञ्जीत' इति नियमेन प्रयोगसाधुत्वार्थमेव तस्य प्रयोगात्। ननु भावप्रत्ययप्रयोगस्थले सर्वत्रैकवचनप्रयोगनियमेन। तत्राख्यातार्थैकत्वसंख्यायाः कुत्रान्वयः इत्याशङ्कायामाह अत्रेति-अत्र भावविहिताख्यातप्रत्ययान्तप्रयोगस्थले। संख्यापक्षेऽनन्वये हेतुमाह तत्रेति-तत्र तादृशप्रयोगस्थले प्रथमान्तपदाभावात्प्रथमान्तपदघटितत्वाभावाद्घटितत्वसम्बन्धेन प्रथमान्तपदस्याभावादिति यावत्। तथाहि आख्यातपदजन्यसंख्यान्वये प्रथमान्तपदोप-स्थाप्यत्वस्य तन्त्रत्वादेतदेव प्रतिपादयन्ति, आख्यातेनेत्यादि— ननु यदि भावविहिता-ख्यातार्थसंख्यानन्वितैव तदानपेक्षणात्कथं तत्प्रतिपादकवचनप्रयोगः? इत्यत आह एक-वचनन्त्विति। किन्तु एकवचनं प्रयोगसाधुत्वार्थं तथाहि शास्त्रे नापदं प्रयुञ्जीतेति नियमादपदस्य प्रयोगनिषेधेन प्रत्ययरहितायाः प्रकृतेः प्रयोगासम्भवेन च च पदत्वसिद्धार्थ-मेव तदुत्तरं भावविहितप्रत्ययोपादानं तत्र चैकवचनप्रयोगस्त्वौत्सर्गिकत्वात्प्रथमोपस्थित-त्वाच्च तत्र च प्रमाणं यथा सार्वधातुके यगिति पाणिनिसूत्रव्याख्यावसरे किन्त्वेकवचन-मेव तस्यौत्सर्गिकत्वेन संख्यानपेक्षणत्वादिति।[८१]

प्रत्यय-प्रयोग

तुमुन् और ण्वुल्

'तुमुण्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्'[८२] इस पणिनीय सूत्र से विहित तुमुन् और ण्वुल् प्रत्ययों के अर्थ तथा प्रयोग के सम्बन्ध में श्रीजयकृष्ण तर्कालङ्कार का कहना है कि तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय क्रियार्था क्रिया के विषय में तथा समानकर्तृत्व रहने पर ही प्रयुक्त होते हैं—

तुम्वुणो: क्रियार्था क्रिया एककर्तृकत्वञ्च ।[57]

क्रियार्था क्रिया के अर्थ के बारे में सारमञ्जरीकार श्रीजयकृष्ण का अपना एक अलग चिंतन है। पाणिनीय सिद्धांतानुसार क्रिया से तात्पर्य है धात्वर्थ अर्थात् भाव। वह धात्वर्थ, जिस क्रिया का प्रयोजन हो, ऐसी क्रिया के उपपद अर्थात् समीप उच्चरित होने पर भविष्यत्काल में तुमुन् तथा ण्वुल् प्रत्ययों का विधान होता है। ऐसे स्थलों में उपपद बनी हुई क्रिया एवं प्रयोजनीभूत क्रिया का कर्त्ता समान होने पर प्रयोजनीभूत अर्थ वाली धातु से आगे भाव मे तुमुन् और कर्त्ता में ण्वुल् प्रत्यय होता है। जबकि सारमञ्जरीकार श्री जयकृष्ण का आशय यह है कि जो जिस उद्देश्य को लेकर जिस किसी कार्य में प्रवृत्त होता है वह उद्देश्य उसका प्रयोजन कहलाता है— इस सामान्य नियमानुसार उद्देश्यता सम्बन्ध से प्रयोजनीभूता क्रिया ही क्रियार्थाक्रिया कहलाती है—

उद्देश्यतासम्बन्धेन क्रियानिमित्तीभूतक्रिया क्रियार्था।[58]

प्रयोजनीभूता उस क्रिया के आगे भविष्यत्काल में समानकर्तृकत्व रहने पर भाव में तुमुन् तथा कर्त्ता में ण्वुल् प्रत्यय होता है। जैसे 'कृष्णं द्रष्टुं याति' इत्यादि स्थल में उद्देश्यता सम्बन्ध से गमनक्रिया की निमित्तता दर्शनक्रिया में होने के कारण तुमादि प्रत्ययों का विधान होता है। अत: समानकर्त्तृकत्व की उपस्थिति अपेक्षित होने के कारण समानकर्त्तृकत्व नहीं होने पर भी तुमुन् प्रत्यय का प्रयोग देखने को मिलता है; यथा—

'न दास्यामि समादातुं सोमं कस्मैचिदप्यहम्'—क्रिया धात्वर्थ: स अर्थ: प्रयोजनं यस्या एवम्भूतायां क्रियायामुपपदीभूतायां गम्यमानायां भविष्यत्काले उपपदी भूतक्रियाया: प्रयोजनीभूतक्रियायाश्च समानकर्त्तृकत्वे च प्रयोजनीभूतार्थकधातोर्भावे तुम्कर्त्तरि वुण्प्रत्ययौ भवत इति पाणिनिप्रभृतय:। ग्रन्थकृन्मते तु यद्यदुद्दिश्य प्रवर्त्तते तत्तस्य प्रयोजनमिति नियमादुद्देश्यतया क्रियाया निमित्तीभूता प्रयोजनीभूता या क्रिया सैव क्रियार्थाक्रियेत्यर्थ:। तथा च यस्य धातोरर्थ: समानकर्तृकस्यान्यधात्वर्थस्य प्रयोजनं भवति तस्माद्धातोर्भविष्यतिकाले भावे तुम्कर्त्तरि वुणभवतीति तात्पर्यम्। यथा कृष्णं द्रष्टं याति कृष्णं दर्शको यातीत्यादौ स्वकर्तृकं कृष्णकर्मकं यद्भविष्यद्दर्शनं तत्प्रयोजनगमनाश्रय इति तदुद्देश्यकगमनाश्रय इति वा शाब्दबोध:। अत्र च दर्शनक्रियायां गमनक्रियाया उद्देश्यतया निमित्तत्वेन दृश्धातोरुत्तरं तुम्वुणौ बोध्यौ।[59]

क्त्वा

समानकर्तृकयो: पूर्वकाले।[60]

इस पाणिनीय सूत्र से विधान किए जाने वाले क्त्वा प्रत्यय के सम्बन्ध में श्री जयकृष्ण का कहना है कि क्त्वा प्रत्यय भाव, आनन्तर्य और क्रिया समानकर्तृकत्व इन तीन अर्थों का वाचक है—

क्त्वाल्यपोर्भाव आनन्तर्यं क्रियासमानकर्तृकत्वमपीति संक्षेप:।[61]

श्रीजयकृष्ण की यह मान्यता न्यायमतानुसारिणी है, जबकि व्याकरण परम्परा में समानकर्तृकत्वादि अर्थ क्त्वा प्रत्यय के द्योत्य माने जाते हैं—

अव्ययकृत इत्युक्तेः प्रकृत्यर्थे तुमादयः ।
समानकर्तृकत्वादि द्योत्येमषामिति स्थितिः ॥[६]

क्रियासमानकर्तृकत्व का अर्थ है – मुख्य क्रिया और क्त्वा प्रत्ययान्त क्रिया का एककर्तृकत्व होना—

क्रियासमानकर्तृकत्वं मुख्यक्रियायाः क्त्वाप्रत्ययान्तप्रतिपाद्यक्रियायाश्चैककर्तृकत्वमित्यर्थः । तथाहि विष्णुं नत्वा प्रणम्य वा स्तौति विप्र इत्यादौ विष्णुविषयकस्तुतिसमानकर्तृकनत्युत्तर (प्रणत्युत्तर) कालवर्त्तमानस्तुत्यनुकूलव्यापाराश्रयो विप्र इति शाब्दबोधः ।[९]

क्त्वाप्रत्ययान्त क्रिया के प्रयोगस्थल में मुख्य-क्रिया तिङन्त-क्रिया होती है ।

यद्यपि दोनो धात्वर्थ समानकालीन होने पर किसी भी धात्वर्थ से क्त्वा प्रत्यय नहीं होगा; यथा 'यज्ञदत्तः जल्पति व्रजति च', किंतु कहीं-कहीं पर इस नियम का अपवाद देखा जाता है । जैसे 'मुखं व्यादाय स्वपिति' यहां निद्राक्रिया के समकालीन ही मुखव्यादानक्रिया की सम्पन्नता प्रतीत हो रही है, तथापि निद्रा और मुख व्यादान क्रिया में मुख-व्यादान-क्रिया-बोधक धातु से आगे क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग (व्यादाय) हुआ है—

क्वचित्तादृशक्रिययोः समानकालीनत्वमपि तदर्थः । यथा मुखं व्यादाय स्वपिति इत्यादौ निद्रासमकालीनत्वं तत्समानकर्तृकं मुखकर्मताकं व्यादानमतएव तादृशव्यादानसमानकालीनस्वापानुकूलव्यापाराश्रय इति शाब्दबोधः ।[१०]

यद्यपि 'मृतं दृष्ट्वा दुःखं भवति प्रिय दृष्ट्वा सुखं भवति' इत्यादि स्थलों में दर्शनक्रिया और उत्पत्ति रूप भवनक्रिया के कर्त्ता भिन्न-भिन्न होने के कारण दृश् धातु से आगे क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग साधु नहीं होना चाहिए, तथापि ऐसे स्थलों में 'स्थित' इत्यादि पदों का अध्याहार इष्ट होने के कारण समानकर्तृकत्व का निर्वाह हो जाता है । जैसे 'मृतं दृष्ट्वा स्थितस्य दुःखं भवति' इत्यादि रूप में शाब्दबोध होता है जो कि दर्शनक्रिया और स्थितिक्रिया का समानकर्तृकत्व बतलाता है—

ननु कथं मृतं दृष्ट्वा दुःखं भवति प्रियं दृष्ट्वा सुखं भवति इत्यादौ दर्शनक्रियाया उत्पत्तिरूपभवनक्रियायाश्च भिन्नकर्तृकतया क्त्वाप्रत्ययस्य साधुतेति चेन्न; स्थितादिपदाध्याहारेण स्थित्यादिक्रियया समानकर्तृकत्वनिर्वाहात् तथाहि मृतं प्रियं वा दृष्ट्वा स्थितस्य दुःखं सुख वा भवतीति तत्र बोधः । एवञ्च तत्र दर्शनक्रियायाः स्थितिक्रियायाश्च समानकर्तृकत्वं बोध्यम् ।[११]

लक्षण और परिभाषाएं

कारक-लक्षण

कारक की परिभाषा के सम्बन्ध में आचार्य श्री जयकृष्ण तर्कालङ्कार का अपना मौलिक चिंतन है । उन्हें वैयाकरण सम्मत परिभाषा इष्ट नहीं है क्योंकि वह परिभाषा अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त है । वैयाकरण कारक की परिभाषा 'करोति क्रियां निर्वर्त्तयति अथवा साधकं निर्वर्त्तकं कारकसञ्ज्ञकं भवति[१२], क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्, क्रियानिष्पादकं कारकत्वम्' इत्यादि रूप से देते हैं । इन परिभाषाओं के अनुसार 'कारक' शब्द निमित्त का पर्याय सिद्ध होता है जो कि जनकता का समानार्थक है । निमित्तत्व

एक तरह से प्रयोजकत्व या प्रेरकत्व की ही प्रतीति करवाता है, किंतु ऐसा स्वीकार करने पर 'चैत्रस्य तण्डुलं पचति' प्रभृति प्रयोगस्थल में षष्ठ्यन्त चैत्र पद की सम्बन्ध अर्थ वाले पदों में भी कारक लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी, क्योंकि स्वकीय तण्डुलों को पकाने के लिए किसी अन्य को प्रदान करके चैत्रादि व्यक्ति पकाने की क्रिया में उसी प्रकार निमित्त या प्रेरक बनता है जिस प्रकार सम्प्रदान कारक में जिसे कोई वस्तु दी जाती है उसके प्रति दानक्रिया का निमित्त बन जाता है। अतः अनुमत्यादि प्रकाशनपूर्वक दानगृहीता व्यक्ति जिस प्रकार सम्प्रदान संज्ञक हुआ करता है उसी प्रकार सम्बन्धी 'चैत्र भी कारक कोटि के अंतर्गत आने लग जाएगा, इसलिए नैयायिकों का कथन है कि क्रियानिमित्तत्व को कारकत्व नहीं कहा जा सकता—

तत्र क्रियानिमित्तत्वं कारकत्वमिति वैयाकरणास्तन्न।[१३]

अपि च, तत्र क्रियानिमित्तत्वं कारकत्वमिति न सामान्यलक्षणम्॥[१४]

अपितु विभक्ति के अर्थ के माध्यम से क्रिया में साक्षात् अन्वित होने वाले को ही कारक कहा जाना चाहिए—

विभक्त्यर्थद्वारा क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्।[१५]

इस कारक लक्षण के अनुसार 'चैत्रस्य तण्डुलं पचति' इत्यादि उक्त दोषग्रस्त स्थल में 'चैत्र' पद का पचति क्रिया के साथ साक्षात् अन्वय नहीं होने के कारण षष्ठ्यन्त चैत्र में कारकत्व का व्यवहार नहीं होता है। इसके अनुसार धात्वर्थ के अंश में जो सुबर्थ प्रकारीभूत होता है वह कारक कहलाता है। प्रकृत में षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध धात्वर्थ में प्रकारीभूत होकर प्रकाशित नहीं होता, अपितु नामार्थ में ही प्रकारीभूत होता है, अतः 'सम्बन्ध' कारक की कोटि में नहीं आता।

कर्त्ता-लक्षण

स्वतन्त्रः कर्त्ता।[१६]

इस पणिनीय सूत्र से विहित कर्त्ता की परिभाषा के सम्बन्ध में वैयाकरणों का मानना है कि प्रकृत धातु के वाच्य व्यापार का आश्रय ही कर्त्ता कहलाता है—

यदा यदीयो व्यापारो धातुनाभिधीयते तदा स कर्त्ता।[१७]

जबकि आचार्य श्री जयकृष्ण ने कर्त्ता का लक्षण न्यायमतानुसारी देते हुए कहा है कि कृ धातु से आगे यत्नार्थक तृच् प्रत्यय के विधान से 'कर्त्ता' शब्द की निष्पत्ति होती है जो क्रिया की जनक कृति का आश्रय होता है—

क्रियानुकूलकृतिमत्त्वं कर्तृत्वं कर्तृपदस्य यत्नार्थकर्तृजन्तकृधातुव्युत्पन्नत्वात्।[१८]

यद्यपि न्यायसम्मत कर्त्ता के लक्षण को स्वीकार करने पर 'स्थाली पचति' प्रभृति स्थलों पर स्थाली इत्यादि अचेतन पदार्थों में कर्तृत्व सिद्ध नहीं होगा, तथापि एतादृश स्थलों पर लाक्षणिक कर्तृत्व अथवा आरोपित कर्तृत्व मानने पर दोष का निराकरण हो जाता है—

अतोऽन्यत्राचेतनादौ कर्तृत्वं भाक्तमिति।[१९]

कर्म-लक्षण

श्री जयकृष्ण ने कर्म कारक का लक्षण देते हुए कहा है कि परसमवेत धात्वर्थ से

जन्य फलाश्रय को कर्म कहते हैं—

परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वम् ।[100]

यहां परत्व का अर्थ है भिन्नत्व और समवेत का अर्थ हैं समवाय सम्बन्ध से वृत्तित्व । किंतु प्रकृत कर्मलक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है, क्योंकि 'काशीं गच्छति न प्रयागम्' प्रभृति स्थलों में दोष यह रह जाता है कि काशी भिन्न चैत्रादि समवेत उत्तर-देशसंयोगानुकूल व्यापारजन्य उत्तरदेशसंयोगरूप फलशालित्व प्रयागादि में समन्वित नहीं होने के कारण प्रयाग की कर्मसंज्ञा नहीं बन पाती । अत: निर्णय के रूप में भट्ट नागेशोक्त कर्मत्व का निर्दुष्ट लक्षण स्वीकार करना चाहिए—

प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वयोग्यताविशेषशालित्वं कर्मत्वम् ।[101]

समास-लक्षण

आचार्य श्री जयकृष्ण समास को एक विशेष प्रकार की अखण्ड उपाधि मानते हैं—

तत्र समासत्वमखण्डोपाधिविशेषनं तु कर्मधारयादिषडन्यतमत्वमात्माश्रयत्वात् ।[102]

इस प्रसङ्ग में इन्होंने जो अव्ययीभावसमास, तत्पुरुषसमास, कर्मधारयसमास, द्विगुसमास, बहुव्रीहिसमास और द्वन्द्वसमास के लक्षण दिए हैं वे सर्वथा नवीन, मौलिक और प्रथमतः दृष्टिगोचर हुए हैं । यथा—

समासग्रस्तत्वे सति नानाविभक्तिष्वेकरूपतावत्पदत्वमव्ययीभावत्वम् ।[103]
असमानविभक्तिमत्प्रतिपदप्रकृतिकत्वे सत्यभेदबोधकपदत्वं तत्पुरुषत्वम् ।।[104]
द्विगुभिन्नत्वे सति समानविभक्तिमत्पदप्रकृतिकत्वे सत्यभेदबोधकत्वं कर्मधारयत्वम्[105]
समानविभक्तिमत्पदप्रकृतिकत्वे सत्यभेदबोधकसंख्यापूर्वपदत्वं द्विगुत्वम् ।।[106]
नञ्तत्पुरुषभिन्नत्वे सत्युत्तरपदलाक्षणिकपदवत्त्वं बहुव्रीहित्वम् ।
पदजन्यप्रतिपत्तिविषयभेदबोधकत्वे सति समानविभक्तिमत्पदप्रकृतिकत्वं द्वंद्वत्वम् ।[108]
द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु ।[109]

इस सूत्र द्वारा आचार्य पाणिनि ने 'द्वन्द्व' शब्द को रहस्यादि अनेक अर्थों में निरूपित किया है । 'च' के अर्थ में विहित द्वंद्व समास में 'च' का अर्थ भेद है । यह भेद पदार्थ तथा पदार्थावच्छेदक इन दोनों ही अर्थों मे होता है । आचार्य श्री जयकृष्ण चार्थबोधक द्वंद्व समास के दो ही भेद मानते हैं इतरेतर तथा समाहार, जो कि इनकी अपनी निजी अवधारणा है—

स च द्विविध इतरेतरः समाहारश्च ।[110]

जबकि वैयाकरणपरम्परा 'च' के चार अर्थ मानती है—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतर और समाहार । इनमें समुच्चय और अन्वाचय में एकार्थीभावसामर्थ्य न होने से समास नहीं होता, किंतु इतरेतर और समाहार में एकार्थीभावसामर्थ्य विद्यमान है अतः यहां समास हो जाता है ।

निपातार्थ

आचार्य श्री जयकृष्ण यत्र-तत्र नैयायिक मत से हटकर वैयाकरणमतानुसार भी

अपना मत रखते हुए दिखाई पड़ते हैं। जैसे एव, इत्यादि निपातों को श्री जयकृष्ण अवधारण, सादृश्यादि अर्थों का द्योतक मानते हैं जो कि वैयाकरणों को इष्ट है, जबकि न्यायपरम्परा एवादि निपातों को अवधारणादि अर्थों का वाचक मानती है। एव का अर्थ है व्यवच्छेद। उसी को शक्य कहते हैं। अत: एव का शक्यतावच्छेदक व्यवच्छेदकत्व ही कहलाता है। व्यवच्छेद का अर्थ विरह है—

तस्य व्यवच्छेदकत्वमेव शक्यतावच्छेदकं व्यवच्छेद: शक्यो व्यवच्छेदो विरह:।[111]

वृत्ति भेद

वृत्ति भेदों के निरूपण के प्रसङ्ग में श्री जयकृष्ण ने प्राचीन नैयायिकमतानुरूप शक्ति (अभिधा) और लक्षणा रूप दो भेदों को ही वृत्ति में परिगणित किया है और शक्ति का स्वरूप 'अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य: अथवा इदं पदमिममर्थं बोधयतु' इस प्रकार बताया है, जबकि वैयाकरण शक्ति और व्यञ्जना को वृत्ति भेदों के रूप में अङ्गीकार करते हुए वाच्यवाचकभाव को शक्ति मानते हैं।

शाब्दबोध

शाब्दबोध के प्रसङ्ग में श्री जयकृष्ण ने नैयायिकमत का समर्थन किया है। इनके अनुसार शाब्दबोध की प्रक्रिया में सर्वप्रथम पदज्ञान रूप करण की अपेक्षा होती है। तदनन्तर शक्ति इत्यादि वृत्तियों की सहायता से पदार्थज्ञान रूप व्यापार के माध्यम से शाब्दबोध रूप फल की निष्पत्ति होती है, जबकि वैयाकरण वृत्तिविशिष्ट पदज्ञान को शाब्दबोध रूप कार्य का कारण मानकर स्वमत में लाघव दर्शाते हैं। श्री जयकृष्ण नैयायिक मत का अवलम्बन करते हुए प्रथमान्तपदार्थमुख्यविशेष्यक शाब्द-बोध मानते हैं, जबकि वैयाकरण धात्वर्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकार करते हैं।[112] प्रसङ्गवश यहां शाब्दबोध के कतिपय उदाहरण वादत्रय—नैयायिक, वैयाकरण और मीमांसक—की दृष्टि से प्रस्तुत करना उचित होगा—

वादत्रय

नैयायिकों के अनुसार 'घटमानय' यहां घट पद से घटद्रव्य की स्मृति होती है। द्वितीया विभक्ति द्वारा कर्मत्व की स्मृति होती है। आङ् पूर्वक नीञ् धातु से 'अभिमत देश में रहने वाला जो संयोग, उसके अनुकूल जो व्यापार, उस व्यापार का जनक जो व्यापार, तद्रूप आनयन' ऐसी स्मृति होती है। लिङ् द्वारा इष्टसाधनत्व, कार्यत्व और कृति की स्मृति होती है। इस प्रकार इस वाक्य से—

घटनिष्ठकर्मत्वानुकूलं यदिष्टसाधनतावत्कार्यतावच्चानयनं तदनुकूलकृतिमान्।[113]

ऐसा शाब्दबोध होता है। वैयाकरणों के अनुसार प्रकृत वाक्यस्थल से 'घटकर्म-कानयनानुकूलवर्तमानकालिकव्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'घटकर्मिका आनयनानुकूलिका वर्तमानकालिका भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के अनुसार 'करोति' यहां कृ धातु से कृति की स्मृति होती है। आख्यात से लक्षणा द्वारा आश्रयत्व की स्मृति होती है। उस आश्रयत्व का आश्रयत्व संबंध से कर्त्ता में अन्वय होता है। इस प्रकार इस वाक्य से 'कृत्याश्रयत्वाश्रय:'[114]

ऐसा शाब्दबोध होता है। वैयाकरणों के अनुसार प्रकृत स्थल से 'उत्पत्त्यनुकूल-व्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'उत्पत्त्यनुकूला भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के अनुसार 'द्वेष्टि' 'यतते' 'जानाति' से क्रमश: 'द्वेषाश्रयत्वाश्रय:', 'यत्नाश्रयत्वाश्रय:' तथा 'ज्ञानाश्रयत्वाश्रय:' एवं 'इच्छति' से 'इच्छाश्रयत्वाश्रय:' ऐसा शाब्दबोध होता है।[११] वैयाकरणों के अनुसार प्रकृत वाक्यस्थलों से क्रमश: 'द्वेषानुकूलव्यापार:, यत्नानुकूलव्यापार:, ज्ञानानुकूलव्यापार:, इच्छानुकूलव्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'द्वेषानुकूला भावना, यत्नानुकूला भावना, ज्ञानानुकूला भावना, इच्छानुकूला भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के अनुसार 'रथो गच्छति' यहां गम् धातु से उत्तरदेशसंयोगानुकूल व्यापार की स्मृति होती है। आख्यात से लक्षणा द्वारा आश्रयत्व की स्मृति होती है। उस आश्रयता के साथ आश्रयत्व सम्बन्ध है। अत: इस वाक्य से—

उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापाराश्रयत्वाश्रयो रथ:।[११]

ऐसा शाब्दबोध होता है। वैयाकरणों के अनुसार प्रकृत वाक्यस्थल से 'रथवृत्ति-गमनानुकूलवर्त्तमानकालिकव्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'रथवृत्तिगमनानुकूला वर्त्तमानकालिका भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के अनुसार 'त्यजति' यहां त्यज् धातु से पूर्वदेश के विभाग के अनुकूल व्यापार की स्मृति होती है। आख्यात से शक्ति द्वारा कृति की स्मृति होती है। अनुकूलता संबंध से पूर्वदेशविभागानुकूलक्रिया में अन्वय कृति का होता है। तत्पश्चात् आश्रयत्व संबंध है। अत: इस वाक्य से—

पूर्वदेशविभागानुकूलक्रियानुकूलकृत्याश्रय:।[११०]

ऐसा शाब्दबोध होता है। वैयाकरणों के अनुसार प्रकृत वाक्यस्थल से 'वर्त्तमान-कालिकपूर्वदेशविभागानुकूलव्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'वर्त्तमानकालिका पूर्वदेशविभागानुकूला भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के अनुसार 'पतति' यहां पत् धातु से अध:संयोगानुकूल क्रिया की स्मृति होती है। आख्यात से कृति की स्मृति होती है। यहां आश्रयत्व संबध है। अत: इस वाक्य से—

अध:संयोगानुकूलक्रियानुकूलकृत्याश्रय:।[११४]

ऐसा शाब्दबोध होता है। यहां ध्यातव्य यह है कि जैसे 'ग्रामं गच्छति' वाक्य-स्थल में ग्राम में कर्मता विद्यमान है वैसे 'पत्रं भूमौ पतति' वाक्यस्थल में कर्मता नहीं आयेगी, क्योंकि पत् धातु द्वारा अधोदेश के संयोग के अनुकूल परिस्पन्दरूप व्यापार की स्मृति से तद्घटक संयोग के अधोदेश से अवच्छिन्न होने के कारण उस संयोग की विषयता में अधिकरण अवच्छिन्न है। अत: 'पत्रं भूमि पतति' की आपत्ति नहीं जा सकती। वैयाकरणों के अनुसार पतति से 'अधोदेशसंयोगानुकूलवर्त्तमानकालिकव्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'अधोदेशसंयोगानुकूला वर्त्तमानकालिका भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के अनुसार 'नश्यति घट:' यहां नश् धातु से नाश की स्मृति होती

है। आख्यात से लक्षणा द्वारा प्रतियोगित्व की स्मृति होती है। यहां आश्रयत्व संबंध है। अत: इस वाक्य से 'नाशप्रतियोगित्वाश्रयो घट:'[११९] ऐसा शाब्दबोध होता है। वैयाकरणों के अनुसार प्रकृत वाक्यस्थल से 'घटनाशानुकूलवर्त्तमानकालिकव्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'घटनाशानुकूला वर्त्तमानकालिका भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के अनुसार 'विद्यते' यहां विद् धातु से सत्त्व की स्मृति होती है। तिङ् से लक्षणा द्वारा आश्रयत्व की स्मृति होती है। यहां आश्रयत्व संबंध है। अत: इस वाक्य से 'सत्त्वाश्रयत्वाश्रय:'[१२०] ऐसा शाब्दबोध होता है। वैयाकरणों के अनुसार प्रकृत वाक्यस्थल से 'सत्तानुकूलो वर्तमानकालिको व्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'सत्तानुकूला वर्त्तमानकालिका भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के अनुसार 'निद्राति' यहां नि पूर्वक द्रा धातु से मेध्या नामक नाड़ी और मन के संयोग की स्मृति होती है। आख्यात के द्वारा शक्ति से कृति की स्मृति होती है। यहां आश्रयत्व संबंध है। अत: इस वाक्य से 'मेध्यामन:संयोगानुकूलकृत्या-श्रय:'[१२१] ऐसा शाब्दबोध होता है। वैयाकरणों के अनुसार प्रकृत वाक्यस्थल से 'मेध्या-मन:संयोगानुकूलवर्त्तमानकालिकव्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'मेध्यामन:-संयोगानुकूला वर्त्तमानकालिका भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के अनुसार 'चैत्रो मैत्रं तण्डुलं पाचयति' इस णिजन्त प्रयोग स्थल में मैत्र पद से उत्तरवर्ती द्वितीया विभक्ति का वृत्तित्व अर्थ है। तण्डुल पद से उत्तरवर्ती द्वितीया से फल की स्मृति होती है। णिजन्त पच् धातु से पाकानुकूल व्यापार अर्थ की स्मृति होती है। आख्यात से लक्षणा द्वारा पाकानुकूलव्यापारानुकूलव्यापार की स्मृति होती है। यहां आश्रयत्व संबंध है। अत: इस वाक्य से 'तण्डुलवृत्तिकर्मत्वानुकूलपाकानु-कूलमैत्रवृत्तिव्यापारानुकूलव्यापारवांश्चैत्र:'[१२२] ऐसा शाब्दबोध होता है। वैयाकरणों के अनुसार प्रकृत वाक्यस्थल से 'चैत्राभिन्नैककर्तृकप्रयोज्यमैत्रवृत्तितण्डुलकर्मकपाकानुकूल-वर्त्तमानकालिकव्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'चैत्राभिन्नैककर्तृका प्रयोज्यमैत्रवृत्तिता तण्डुलकर्मिका पाकानुकूला वर्त्तमानकालिका भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के अनुसार 'चैत्रेण मैत्रस्तण्डुलं पाच्यते' यहां वृत्तित्व संबंध है। तृतीया विभक्ति द्वारा व्यापार का बोध होता है। पाचि धातु से पाकानुकूलव्यापार बोधित होता है। कर्म और तिङ् से आश्रयत्व की प्रतीति होती है। द्वितीया विभक्ति से कर्मत्व का ज्ञान होता है। अत: इस वाक्य से 'चैत्रवृत्तिर्यो व्यापारस्तज्जन्यो यस्तण्डुल-वृत्तिकर्मतानुकूलपाकानुकूलव्यापारस्तदाश्रयो मैत्र:'[१२३] ऐसा शाब्दबोध होता है। वैया-करणों के अनुसार प्रकृत वाक्यस्थल से 'अस्वतन्त्रकर्तृरूपचैत्रवृत्तिमैत्राभिन्नैककर्तृक-तण्डुलकर्मकपाकानुकूलवर्त्तमानकालिकव्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'अस्वतन्त्रकर्तृरूपचैत्रवृत्तिता मैत्राभिन्नैककर्तृका तण्डुलकर्मिकापाकानुकूला वर्त्तमान-कालिका भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के अनुसार 'पिपठिषति' यहां पठ् धातु से पाठ की स्मृति होती है।

सन् प्रत्यय से इच्छा की स्मृति होती है। यहां विषयता संबंध है। आख्यात से लक्षणा द्वारा आश्रयत्व की स्मृति होती है और यहां आश्रयत्व संबंध है। इस प्रकार इस वाक्य से 'पाठविषयकेच्छाश्रयत्वाश्रय:'[११४] ऐसा शाब्दबोध होता है। वैयाकरणों के अनुसार प्रकृत वाक्य स्थल से 'पाठविषयकेच्छानुकूलवर्त्तमानकालिकव्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'पाठविषयकेच्छानुकूला वर्त्तमानकालिका भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के अनुसार 'देवदत्तेन शास्त्रं पिपठिष्यते' इस वाक्य से 'देवदत्त-वृत्तीच्छाविषयपाठजन्यफलशालिशास्त्रम्'[११५] ऐसा, वैयाकरणों के अनुसार 'अस्वतन्त्र-कर्तृरूपदेवदत्ताभिन्नैककर्तृकशास्त्रकर्मकपाठविषयकेच्छानुकूलवर्त्तमानकालिकव्यापार:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'अस्वतन्त्रकर्तृरूपदेवदत्ताभिन्नैककर्तृका शास्त्रकर्मिका पाठविषयकेच्छानुकूला वर्त्तमानकालिका भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

यहां ध्यातव्य यह है कि नैयायिक, वैयाकरण और मीमांसक ये समस्त आचार्य कृदन्तों और तद्धितान्तों के स्थल में भावनाप्रकारक अथवा कर्त्तादि मुख्यविशेष्यक शाब्दबोध मानते हैं। अत: यह कहना उचित ही है कि कर्तृवाच्य के प्रयोगों में कृत् प्रत्यय की कृति (व्यापार अथवा भावना) के आश्रय कर्त्ता में ही शक्ति होती है। फलत. 'चत्रोऽन्नस्य पक्ता' यहां षष्ठी विभक्ति का कर्म अर्थ है क्योंकि वह द्वितीया विभक्ति का प्रतिरूप है। पच् धातु से पाक की स्मृति होती है। तृच् प्रत्यय से कृति के आश्रय का बोध होता है। यहां अभेद संबंध है। अत: नैयायिक इस वाक्य से 'अन्नकर्मकपाकानुकूलकृत्याश्रयाभिन्नश्चैत्र:'[११६] ऐसा, वैयाकरण 'अन्नकर्मकपाकानुकूल-व्यापाराश्रयाभिन्नश्चैत्र:' ऐसा तथा मीमांसक 'अन्नकर्मिका पाकानुकूला भावनाश्रया-भिन्नश्चैत्र:' ऐसा शाब्दबोध मानते हैं।

भाववाच्य में विहित कृत् प्रत्यय की भाव और कर्म में शक्ति है। अतः नैयायिकों के अनुसार 'चैत्रेण पक्वमन्नम्' इस वाक्यस्थल में चैत्र पद से उत्तरवर्त्ती तृतीया विभक्ति से कृति की स्मृति होती है। वृत्तित्व संबंध है। पच् धातु से पाक की स्मृति होती है, जन्यत्व संबंध है। निष्ठा प्रत्यय से फलशालित्व की स्मृति होती है, अभेद संबंध है। इस प्रकार इस वाक्य से 'चैत्रवृत्तिकृतिजन्यपाकजन्यफलशाल्यभिन्नमन्नम्'[११७] ऐसा, वैयाकरणों के अनुसार 'चैत्रवृत्तिव्यापारजन्यपाकजन्यफलाभिन्नमन्नम्' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'चैत्रवृत्तिभावनाजन्यपाकजन्यफलाभिन्नमन्नम्' ऐसा शाब्दबोध होता है।

'चैत्रेण पक्वम्' इत्यादि भाववाच्यस्थल में नैयायिकों के अनुसार 'चैत्रवृत्तिकृति-जन्य: पाक:'[११८] ऐसा, वैयाकरणों के अनुसार 'चैत्रवृत्तिव्यापारजन्यपाक:' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'चैत्रवृत्तिभावनाजन्यपाक:' ऐसा शाब्दबोध होता है। भाववाच्य में घञादि कृत्प्रत्ययों का प्रयोग साधुतामात्र के लिए किया जाता है, क्योंकि भाव का अर्थ है धात्वर्थ। इसलिए घञादि प्रत्ययों के धात्वर्थरूप भावस्वरूप होने के कारण शाब्दबोध की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि धात्वर्थ तथा प्रत्ययार्थ का अभेद रूप से संबंध है। अत: प्रयोगसाधुता के लिये ही घञादि प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है;

अन्यथा 'शास्त्रे नापदं प्रयुञ्जीत' इस नियम के कारण केवल धातुमात्र का प्रयोग संभव नहीं होगा।

भाववाच्य में द्विवचनादि का प्रयोग इसलिए किया जाता है ताकि कृत्विहित प्रत्यय में द्रव्यतुल्यता आ जाये और द्रव्य के समान धर्म के प्रवेश के कारण लिङ्ग, संख्या इत्यादि का ग्रहण हो जाये, परंतु 'घञलौ पुंसि विज्ञेयौ' इस नियम से घञन्त प्रयोग पुल्लिङ्ग में ही होते हैं। यथा साधुः पाकः, साधू पाकौ, साधवः पाकाः इत्यादि। तात्पर्य यह है कि भाववाच्य में कृत्प्रत्ययों का प्रयोग साधुतामात्र के लिए किया जाता है और जहां कहीं भी द्विवचनादि का प्रयोग किया जाता है वहां 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशते' इस नियम से किया जाता है।

नैयायिकों के अनुसार 'एधानाहर्तुं व्रजति' यहां एध पद से काष्ठ की स्मृति होती है। द्वितीया विभक्ति से कर्मता की स्मृति होती है। आङ् पूर्वक हृ धातु से आहरण की स्मृति होती है। तुम् प्रत्यय से उद्देश्यता की स्मृति होती है। आख्यात से कृति की स्मृति होती है। आश्रयत्व संबंध है। इस प्रकार इस वाक्य से 'एधवृत्ति-कर्मतानुकूलाहरणोद्देश्यकव्रजनानुकूलकृत्याश्रयः'[१९९] ऐसा शाब्दबोध होता है। वैयाकरणों के अनुसार प्रकृत वाक्यस्थल से 'एधकर्मकानुकूलाहरणोद्देश्यकव्रजनानुकूलवर्त्तमान-कालिकव्यापारः' ऐसा तथा मीमांसकों के अनुसार 'एधकर्मकानुकूला आहरणोद्देश्यक-व्रजनानुकूला वर्त्तमानकालिका भावना' ऐसा शाब्दबोध होता है।

सर्वनाम पद

किसी भी भाषा की वाक्यव्यवस्था में सर्वनाम पदों की महती भूमिका है। सर्वनाम पद हैं यत्, तत् इत्यादि। उन यत्, तत् इत्यादि सर्वनाम पदों का शक्य है घट इत्यादि और शक्यतावच्छेदक है घटत्व इत्यादि—तस्य शक्यं घटादिकं शक्यताव-च्छेदकञ्च घटत्वादिकम्।[११०]

इस विषय में नव्य नैयायिक कहते हैं कि यद्यपि सर्वनाम पद यत् तत् इत्यादि पदों से घट, पट इत्यादि अनेक पदार्थों का बोध होता है, परंतु बुद्धि की विषयता के अवच्छेदकत्व से उपलक्षित धर्म से युक्त जो अर्थ हो वही तत् इत्यादि पदों से लेना चाहिये अथवा तत् इत्यादि पद बुद्धि की विषयता के अवच्छेदकत्व से उपलक्षित धर्म से युक्त अर्थ का बोध करवाये—इस प्रकार के ईश्वर-संकेत को स्वीकार करने के कारण तदादि सर्वनामों में बुद्धि की विषयता के अवच्छेदकत्व से उपलक्षित धर्म से युक्त शक्ति के ऐक्य के कारण नानार्थकता नहीं है, जैसे कि हरि इत्यादि पदों में है—तथा च हरिपदादिवन्न नानार्थमेव तात्पर्यग्रहस्तु प्रकरणादिवत्पूर्वसङ्केतोपस्थितिरिति नवीनतार्किकाः।[१११]

बुद्धि की विषयता के अवच्छेदकत्व से उपलक्षित धर्म कभी घटत्वादि में होता है और कभी पटत्वादि में। उन समस्त घटत्व, पटत्व आदि का बुद्धि की विषयता के अवच्छेदकत्व से उपलक्षित अर्थ में ही अन्वय होता है। यथा 'तत्र घटोऽस्ति तमानय' इस वाक्य में बुद्धि की विषयता घट में है और बुद्धि की विषयता का अवच्छेदकत्व घटत्व में है। बुद्धि की विषयता का अवच्छेदकत्व घटत्व में होने के कारण बुद्धि की

विषयता के अवच्छेदकत्व से उपलक्षित धर्म हुआ घटत्व और उस घटत्व से युक्त है घट एवं उस घट का बोधक है 'तत्' पद। बुद्धि की विषयता का अवच्छेदकत्व घटत्व का उपलक्षण ही है न कि विशेषण, क्योंकि विशेषण तो स्वयं घटत्व ही है और शाब्दबोध में घटत्व का स्वरूप से ही भान होता है।

तात्पर्य यह है कि 'तमानय' यह कहने पर इन पदों के अर्थों की उपस्थिति रूप शाब्दबोध में शक्ति का ग्रहण घटत्वादि विशेषण से उस तम् के बोध्य घटत्व के समान-प्रकारकत्व द्वारा कार्यकारणभाव से (अर्थात् ज्यों ही हम तम् रूपी कारण का उच्चारण करेंगे त्योंही उस तम् का कार्य घटत्व रूप बोध हो जायेगा) बुद्धिविषत्व के रूप में उस घट का आनयन रूप अर्थ फलित हो जाएगा अर्थात् बुद्धि में विषय के रहने के कारण शक्यतावच्छेदक घटत्वादि का अनुगम हो जाता है—

तमानयेत्यत्र शक्तिग्रहपदार्थोपस्थितिशाब्दबोधानां घटत्वादिप्रकारकत्वात्तेषां समान-प्रकारकत्वेनैव कार्यकारणभावाद्बुद्धिविषयत्वेनैव तेषामनुगमः। बुद्धि विषयवर्त्तित्वेन शक्यतावच्छेदकानाञ्चानुगम इति विशेषः।[११३]

इस प्रकार वक्ता की बुद्धि की विषयता के अवच्छेदकत्व से उपलक्षित धर्म से युक्त होना अथवा अपने उच्चारण के अनुकूल बुद्धि द्वारा किसी विषय को विशिष्ट करना ही सर्वनाम पद का अर्थ है—

वक्तृबुद्धिविषयतावच्छेदकत्वेनोपलक्षितधर्मावच्छिन्नं स्वोच्चारणानुकूलबुद्धिप्रकार-विशिष्टं वा सर्वनामार्थः।[११३]

कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि सर्वनाम पद की कहीं प्रक्रान्त में और कहीं प्रक्रम्यमाण में शक्ति है, परन्तु यह अवधारणा अनुचित है, क्योंकि प्रक्रान्त और प्रक्रम्य-माण इन दोनों का ही अनुगमक बुद्धि की विषयता है और वह बुद्धि की विषयता ही शक्यता का अवच्छेदक होती है—

केचित्तु सर्वनामपदस्य क्वचित्प्रक्रान्ते क्वचित्प्रक्रम्यमाणे च शक्तिः।
उभयोरनुगमकं बुद्धिविषयत्वं तदेव शक्यतावच्छेदकमित्याहुः ॥[११४]

संख्याविचार

एकत्वादि व्यवहार की हेतु संख्या है। संख्या का मूल आधार भेद और अभेद का विभाग ही है। भेदहेतु के कारण ही किसी संख्या की सत्ता का प्रश्न उठता है। यह संख्या ही उन द्रव्यों में भी भेद को जगा देती है, जो सामान्यतः भेद और अभेद से परे माने जाते हैं।

द्वित्व आदि की कल्पना का आरम्भिक और एकमात्र आधार है एकत्व कल्पना। एकत्व सिद्ध होने पर ही अन्य संख्याओं का अस्तित्व सम्भव हो सकता है—

द्वित्वादियोनिरेकत्वं भेदास्तत्पूर्वका यतः।
विना तेन न संख्यानामन्यासामस्ति सम्भवः ॥[११५]

जिस प्रकार दिक् और गुण द्रव्य में अन्तर्हित रहते हैं और उसी के आवरण में प्रकट होते हैं उसी प्रकार संख्या भी सामान्यतः द्रव्य में ही अन्तर्भूत होती है—

संख्यावान्सत्वभूतोऽर्थः सर्व एवाभिधीयते।[११६]

जातीयता या सामान्यता की दृष्टि से अभिन्न वस्तुओं में भेदबुद्धि की व्यावहारिक सूचना ही 'संख्या' शब्दों द्वारा मिलती है और यह समानता मूलतः एकत्व पर आधारित है। यह एकत्व ही द्रव्यत्व की पहचान का मूल हेतु है—

अतो द्रव्याश्रितां संख्यामाहुः संसर्गवादिनः।
भेदाभेदव्यतीतेषु भेदाभेदविधायिनीम्॥
आत्मान्तराणां येनात्मा तद्रूप इव लक्ष्यते।
अतद्रूपेण संसर्गात्सा निमित्तसरूपता॥[११७]

संख्या की अवधि एकत्व से लेकर परार्ध पर्यन्त मानी जाती है; यथा एक, दश, सौ, हजार, लाख, नियुत, कोटि, अरब, वृन्द, खर्व, निखर्व, शङ्ख, पद्म, सागर, अन्त्य, मध्य और परार्ध। ये संख्या दश गुना के वृद्धि क्रम से होती है। यही दशमलव प्रणाली की आधार शिला है—

एकं दश शतञ्चैव सहस्रयुतं तथा।
लक्षञ्च नियुतञ्चैव कोटिरर्बुदमेव च॥
वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शङ्खपद्मौ च सागरः।
अन्त्यं मध्यं परार्द्धञ्च दशवृद्धया यथोत्तरम्॥[११८]

अठारह शब्दों के अन्त वाले जो संख्या शब्द हैं वे सख्या से विशिष्ट किसी द्रव्य में ही अन्वित होते हैं और केवल जो संख्या की उपस्थिति होती है वह लक्षणा द्वारा किसी द्रव्य में अन्वित होती है, परंतु उन्नीस संख्या की स्थिति विचित्र है। वह संख्या से विशिष्ट द्रव्य में भी और लक्षणा द्वारा भी—इस प्रकार दोनों तरह से बोध कराती है। यहां इस संख्या के विषय में ध्यातव्य यह है कि जहां सामानाधिकरण्य से अन्वय होता है वहां वह संख्याविशिष्ट में अन्वित होती है और जहां वैयधिकरण्य से अन्वय होता है वहां वह संख्या में ही अन्वित होती है। विंशति इत्यादि शब्द हमेशा एकवचनान्त ही होते हैं—

तत्राष्टादशशब्दान्तसंख्याशब्दाः संख्याविशिष्टे एव शक्ताः केवलसंख्योपस्थितिः लक्षणयैवेति बोध्या। ऊनविंशत्यादेस्तूभयत्रैव। तत्र विशेषः यत्र सामानाधिकरण्येनान्वयस्तत्र संख्याविशिष्टे यत्र तु वैयधिकरण्येन तत्र संख्यायामेव। ऊनविंशतिब्राह्मणानामूनविंशतिरिति बोध्यम्। तत्रापि विशेषः एषां विंशत्यादिशब्दानामेकवचनान्ततैव।[११९]

जहां द्वित्व, बहुत्व इत्यादि तात्पर्य के विषय बनते हैं वहां द्विवचनादि प्रयोज्य होते हैं—

यत्र तु द्वित्वबहुत्वं तात्पर्यविषयं तत्र द्विवचनादिकमपि प्रयोज्यम्।[१२०]

इसी भांति एक, द्वि, त्रि, चतुर् शब्द अभिधेय पदार्थ के अनुसार तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं और पञ्च इत्यादि शब्द हमेशा अजहल्लिङ्ग होते हैं अर्थात् सर्वदा एक जैसे ही होते हैं—

एवमेकादिचतुरन्ता वाच्यलिङ्गतया त्रिषु वर्तन्ते पञ्चादयस्तु सर्वदाजहल्लिङ्गाः।[१२१]

इसी भांति 'एको ब्राह्मण:' यहां जाति के अनुसार ब्राह्मणमात्र की उपस्थिति में 'एक' पद की सार्थकता है। 'द्वौ ब्राह्मणौ' यहां 'द्वि' पद की द्रुत बोधकता में सार्थकता है। 'त्रयो ब्राह्मणाः' इत्यादि बहुवचनान्त प्रयोगों में बहुत्व से अवच्छिन्न ब्राह्मणत्व में सार्थकता है—

एवमेको ब्राह्मण इत्यत्र जातिपुरस्कारेण ब्राह्मणमात्रोपस्थितावेकपदं सार्थकम्। द्वौ ब्राह्मणावित्यत्र द्विपदं द्रुतबोधाय सार्थकम्। त्रयो ब्राह्मणाश्चत्वारो ब्राह्मणा: पञ्च बह्वेत्यादौ तु बहुवचनेन बहुत्वावच्छिन्नब्राह्मणोपस्थितौ त्रिचतुरादीनान्तु तद्व्यावर्त्तकतया सार्थकत्वमेति निष्कर्ष:।[१२]

सारमंजरी की परिवर्द्धितव्याख्या

सौभाग्य से 'सारमंजरी' पर पण्डित आशुबोध विद्याभूषण विरचित 'परिवर्द्धितव्याख्या' उपलब्ध है जो कि अति महत्त्वपूर्ण है। यह व्याख्या मात्र मूलग्रन्थपंक्तिसाधिका ही नहीं है प्रत्युत यथोचित निर्णय की भूमिका का भी निर्वहन करती है। व्याख्याकार द्वारा सारमंजरीकार से हटकर अपना स्वतन्त्र चिन्तन भी पदे-पदे प्रस्तुत किया गया है। फलत: इस व्याख्या से मूलग्रंथ (सारमंजरी) का महत्त्व अतिशय रूप से उजागर हुआ है। प्रकृत व्याख्या के कतिपय मौलिक दृष्टांत उदाहरण के रूप मे यहां प्रस्तुत हैं—

लकारा: खलु दशविधा: लृट् लट् लिट् लुट् लेट् लोट् चेति टकारेता: षट्। लङ् लिङ् लुङ् लृङ् चेति ङितश्चत्वार इति। तर्कालङ्कारेणैतेषां विशेषत: प्रयोगस्थानानि उदाह्रियन्ते विशदम्; अत्राह हरि: 'वर्त्तमाने परोक्षे श्वो भाविन्यर्थे भविष्यति। विध्यादौ प्रेरणादौ च भूतमात्रे लङादय:। सत्यां क्रियातिपत्तौ च भूते भाविनि लृङ् स्मृत:' इति।[१३]

अत्रेदं बोध्यं यत्र चिकीर्षादे: प्रवृत्त्यादिरूपेष्टसाधनत्वं तत्र चिकीर्षादिगोचरेच्छासत्त्वेऽपि इच्छार्थकसन्नन्तात्र सन्प्रत्यय: 'सन्नन्तान्न सनिष्यते' इत्यनुशासनाच्चिकीर्षिषतीत्यादिको न प्रयोग:।[१४]

यस्य च भावेन भावलक्षणमिति पाणिनिसूत्रेण विहिता सप्तमी सतिसप्तमी। इह खलु समानदेशकालाभ्यां परिच्छेदकत्वरूपलक्षणमर्थस्तेन गोषु दुह्यमानास्वागत इत्यादौ गोदोहनक्रियाकालेनागमनकालपरिच्छेदाद्गवादे: सप्तमी। गुणे स द्रव्यत्वमस्तीत्यादौ तु गुणसत्ताया द्रव्यसत्ताधिकरणदेशपरिच्छेदकत्वाद् गुणवाचकात्सप्तमीति बोध्यम्। प्रसिद्धञ्च निर्ज्ञातदेशकालक्रियाया अनिर्ज्ञातदेशकालयो: परिच्छेदकत्वं तस्याश्च कदाचित्स्वसमानकालेन कदाचिच्च सपूर्वोत्तरकालाभ्यां च तथात्वम्; तेन दुग्धासु धोक्ष्यमाणासु गोष्वित्यादौ सिद्धि:।[१५]

बहुव्रीहित्वं समस्यमानपदातिरिक्तपदार्थबोधकत्वञ्चेति। स च द्विविधस्तद्गुणसंविज्ञानोऽतद्गुणसंविज्ञानश्च। समुदायोपस्थाप्ये गुणीभूतस्यापि पदार्थस्य समुदायान्विते-ऽन्वयबोधकस्तद्गुणबहुव्रीहिर्यथा लम्बकर्णमानयेत्यादौ कर्णस्याप्यानयनेऽन्वयस्तद्विना धर्मिणोऽप्यानयनासम्भवात्सम्भवे वा तद्वैशिष्ट्येनैवानयनान्वयात्तस्यानयनेऽन्वय:। तद्भिन्नोऽतद्गुणस्तथाहि दृष्टसमुद्रमानयेत्यादौ समुद्रस्यानयनानन्वयात्तथात्वमिति। किञ्च

समानाधिकरणपदघटितो व्याधिकरणपदघटितश्चेति पुनर्द्विविधः। तत्र समानाधिकरण-बहुव्रीहिर्यथा नीलाम्बरादिः। व्यधिकरणसमासे तु दण्डपाणिरित्यादिः।[१५]

वैयाकरण मते तु शब्दष्षड्विधः। तथाहि; 'मुख्योलाक्षणिको गौणः शब्दः स्यादौपचारिकः। यौगिको योगरूढश्च शब्दः षोढा निगद्यते' इति।[१६]

इस प्रकार उद्भट विद्वान् पण्डित आशुबोध विद्याभूषण निश्चित ही न्याय और व्याकरण दोनों सम्प्रदायों के निष्णात मर्मज्ञ थे। सारमंजरी के दुरूह स्थलों को उद्घाटित करने वाली यह व्याख्या निश्चित ही विषय के दुरूह स्थल के रहस्यों को खोलकर विषय को परिवर्धित करती है। व्याख्याकार ने अपनी व्याख्या में प्रायः आचार्य भर्तृहरि को अपना आदर्श स्वीकार किया है और नव्यन्यायशैली को अपनाया है। विद्याभूषणजी ने सारमंजरी के वक्तव्यों को स्पष्ट करते हुए उदाहरण-प्रत्युदाहरणों से पुष्ट किया है अतः इनकी परिवर्द्धितव्याख्या अन्वर्थनामा ही है।

इस प्रकार श्रीजयकृष्ण तर्कालङ्कार ने व्याकरणशास्त्रीय सिद्धांतों को सारभूत रूप में प्रस्तुत करने वाली शब्दार्थोभयाश्रित शाब्दबोधपरक 'सारमंजरी' नामक स्वकृति द्वारा 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ कर दिया है। फलतः इस कृति के माध्यम से व्याकरणशास्त्र एवं न्यायशास्त्र का समन्वित रूप में सिद्धान्तज्ञान प्राप्त होता है। मात्र इस कृति का सम्यक् पर्यालोचन कर लेने पर भी व्याकरण-शास्त्रीय सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सकता है—ऐसा कहें तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं।

■

संदर्भ :

१. दण्डी, काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद (मेहरचन्द लछमनदास प्रकाशन, प्रथम संस्करण, दिल्ली, १९७३) कारिका ३३
२. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, ब्रह्मकांड (चौखम्भा संस्कृत संस्थान, पञ्चम संस्करण, वाराणसी, १९८४) कारिका १६
३. वही, १.१३२
४. वही, १.११
५. वही, १.१२
६. वही, १.१३
७. वही, १.१४
८. वही, १.१४
९. वही, १.२२
१०. पतञ्जलि, व्याकरणमहाभाष्य, पस्पशाह्निक (दिल्ली, १९६७) पृष्ठ १-२
११. वाक्यपदीय, ब्रह्मकांड, कारिका ४३
१२. वही, १.१४२
१३. वही, १.१४३
१४. पतञ्जलि, व्याकरण महाभाष्य, पस्पशाह्निक, पृ. ४३

१५. वही, एकः पूर्वपरयोः (पाणिनि सूत्र ६.१.८४) सूत्रस्थ भाष्य
१६. पाणिनि, अष्टाध्यायी (पानीपत, १९९०) ६.१.१२३
१७. वाक्यपदीय, २.४७९
१८. वही, १.१,१३८
१९. थियोडर ऑफेक्ट, केटेलोगस केटेलोगरम, प्रथम भाग (फ्रेण्ज स्टाइनर वर्लेग जी. एम. बी. एच. वेस्बडन, जर्मनी, १९६२) पृष्ठ १९९
२०. भट्टोजी दीक्षित, सिद्धांतकौमुदी, वैदिकी प्रक्रिया, प्रथम अध्याय, सुबोधिनी व्याख्या (दिल्ली, १९६७) पृ. ३८०
२१ के. कुञ्जुण्णी राजा, न्यू केटेलोगस केटेलोगरम, भाग VII (मद्रास, १९७३) पृ. १६९
२२. केटेलोगस केटेलोगरम, भाग I, पृ. १९९
२३. पुरुषोत्तमदेव शर्मा, वृत्तिदीपिका की भूमिका (राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मंदिर, जयपुर, १९५६) पृ. ख
२४. मौनि श्रीकृष्ण भट्ट, वृत्तिदीपिका (राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मंदिर, जयपुर, १९५६) पृ. ७
२४. (क) आर. सी. मजूमदार द्वारा सम्पादित, दि मुगल एम्पायर, अब्दुर्रशीद का अध्याय (बम्बई, १९८४) पृ. १९८
२४. (ख) वही, जे. एन. चौधरी का अध्याय, पृ. २२५
२४. (ग) वही, पृ. २२६
२५. वृत्तिदीपिका भूमिका, पृ. ख
२६. केटेलोगस केटेलोगरम, भाग I, पृ. १९९
२७. न्यू केटेलोगस केटेलोगरम, भाग VII, पृ. १६९
२८. सिद्धांतकौमुदी, सुबोधिनी टीका, पृ. ३८०
२९. वृत्तिदीपिका, पृ. २५
३०. तर्कालङ्कार, श्रीजयकृष्ण, सारमञ्जरी (द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, १९३५) पृ. १
३१. न्यू केटेलोगस केटेलोगरम, भाग VII, पृ. १६९
३२. सारमञ्जरी, पृ. ८२
३३. वही, पृ. १-२
३४. भट्टाचार्य, विश्वनाथ पञ्चानन, न्यायसिद्धांत मुक्तावली, शब्दखण्ड (पण्डित हरिराम शुक्ल द्वारा सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७२) पृ. २९३
३५. सारमञ्जरी, पृ. ५०
३६. भट्टाचार्य, श्रीमद् भवानन्द सिद्धांतवागीश, कारकचक्र (बनारस, १९४२) पृ. २
३७. सारमञ्जरी, पृ. ३२ ३३

३८. वही, पृ. ७०
३९. वही, पृ. ६२-६३
४०. वही, पृ. ७
४१. अष्टाध्यायी, ३.२.१२४
४२. व्याकरणमहाभाष्य, ३.२.१२४
४३. अष्टाध्यायी, ३.३.१६१
४४. कैय्यट, व्याकरण महाभाष्य प्रदीप (प्रथम संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७) ३.३.१६१
४५. तर्कालङ्कार, जगदीश, आख्यात प्रकरण (द्वितीय संस्करण, वाराणसी, १९७३) कारिका १०१
४६. सारमञ्जरी, पृ. ३
४७. नागेश भट्ट, वैयाकरणसिद्धांतपरमलघुमञ्जूषा, लकारार्थ निर्णय (प्रथम संस्करण, काशी, १९४१) पृ १६४
४८. सारमञ्जरी, पृ. ९
४९. विद्याभूषण, पण्डित आशुबोध, सारमञ्जरी परिवर्द्धित व्याख्या (द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, १९३५) पृ. ९
५०. वही, पृ. ९
५१. कौण्डभट्ट, वैयाकरणभूषणसार, धात्वर्थ निर्णय (चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८५) कारिका २
५२. वही, पृ. ४५
५३. लौगाक्षि भास्कर, अर्थसंग्रह, उपोद्घात विभाग (मेरठ, १९८०) पृ. १६
५४. वैयाकरण भूषणसार, धात्वर्थनिर्णय, पृ. १९
५५. अर्थसंग्रह, उपोद्घात विभाग, पृ. १९
५६. वैयाकरणसिद्धांतपरमलघुमञ्जूषा, लकारार्थ निर्णय, पृ. १६१
५७. सारमञ्जरी, पृ. ९
५८. वही, परिवर्द्धित व्याख्या, पृ. ९-१०
५९. सारमञ्जरी परिवर्द्धित व्याख्या, पृ. ९
६०. न्यायसिद्धांतमुक्तावली, शब्दखण्ड, पृ. २६७
६१. वही, पृ. २६७
६२. सारमञ्जरी, पृ. १०
६३. गौतम, न्यायसूत्र (पादक—स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, सुधी प्रकाशन, वाराणसी, १९८६) १.१.१०
६४. सारमञ्जरी परिवर्द्धित व्याख्या, पृ. १०
६५. वही, पृ. १०
६६. अष्टाध्यायी, २.३.१
६७. सारमञ्जरी परिवर्द्धित व्याख्या, पृ. १०-११

६८. अष्टाध्यायी, ३.४.६९
६९. वैयाकरण सिद्धांत कौमुदी (कर्मणि द्वितीया) २.३.२
७०. सारमञ्जरी परिवर्द्धित व्याख्या, पृ. ११
७१. वही, पृ. ११-१२
७२. वही, पृ. १६
७३. वही, पृ. १५-१६
७४. वही, पृ. १६
७५. वही, पृ. १२
७६. वही, पृ. १२-१३
७७. वही, पृ. १३-१४
७८. वही, पृ. १४
७९. सुप्तिङन्त पदम् (अष्टाध्यायी, १.४.१४)
८०. अपदं न प्रयुञ्जीत (महाभाष्य, १.४.१४)
८१. सारमञ्जरी परिवर्द्धित व्याख्या, पृ. १४-१५
८२. अष्टाध्यायी, ३.३.१०
८३. सारमञ्जरी, पृ ७-८
८४. वही, पृ. ८
८५. वही, परिवर्द्धित व्याख्या, पृ. ८
८६. अष्टाध्यायी, ३.४.२१
८७. सारमञ्जरी, पृ. ८-९
८८. वैयाकरणभूषणसार, क्त्वाद्यर्थ निर्णय, कारिका ६०
८९. सारमञ्जरी परिवर्द्धित व्याख्या, पृ. ९
९०. वही, पृ. ९
९१. वही, पृ ९
९२. व्याकरणमहाभाष्य, १.४.२३
९३. सारमञ्जरी, पृ ३२.३३
९४. कारकचक्र, पृ. २
९५. सारमंजरी, पृ. ३३
९६. अष्टाध्यायी, १ ४.५४
९७. वैयाकरण भूषणसागर, सुबर्थनिर्णय, पृ. २४४
९८. सारमंजरी, पृ. ३४
९९. वही, पृ. ३४
१००. सारमंजरी, पृ. ३५
१०१. वैयाकरणसिद्धांतपरमलघुमंजूषा, कारकनिरूपण, पृ, १७६
१०२. सारमंजरी, पृ. ४६-४७
१०३. वही, पृ. ५५

१०४. वही, पृ. ५०
१०५. वही, पृ. ४८-४९
१०६. वही, पृ. ५१
१०७. वही, पृ. ५१
१०८. वही, पृ. ५३
१०९. अष्टाध्यायी, ८.१.१५
११०. सारमंजरी, पृ. ५४
१११. वही, पृ. ५७
११२. शाब्दबोध के सम्यक् ज्ञान हेतु निम्नलिखित दो ग्रन्थ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—
(i) शर्मा, श्रीकृष्ण, वृत्तिमीमांसा (राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण, १९९१)
(ii) मंगलाराम, संस्कृत व्याकरण की दार्शनिक मीमांसा (राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण, १९९५)
११३. सारमंजरी, पृ. १९
११४. वही, पृ. २०
११५. वही, परिवर्द्धितव्याख्या, पृ. २०
११६. सारमंजरी, पृ. २०
११७. वही, पृ. २०
११८. वही, पृ. २१
११९. वही, पृ. २१
१२०. वही, पृ. २१
१२१. सारमंजरी, पृ. २२
१२२. वही, पृ. २२
१२३. वही, पृ. २३
१२४. वही, पृ. २४
१२५. वही, पृ. २४
१२६. वही, पृ. २४
१२७. वही, पृ. २४
१२८. वही, पृ. २४
१२९. वही, पृ. २५
१३०. वही, पृ. ५९
१३१. वही, पृ. ५९
१३२. वही, पृ. ५९
१३३. वही, परिवर्द्धितव्याख्या, पृ. ५९
१३४. सारमंजरी, पृ. ५९
१३५. वाक्यपदीय, ३.११.१५

१३६. वही, ३.११.१
१३७. वही, ३.११.१२-१३
१३८. सारमंजरी, पृ. ८०-८१
१३९. वही, पृ. ८१
१४०. वही, पृ. ८१
१४१. वही, पृ. ८१
१४२. वही, पृ. ८१-८२
१४३. सारमंजरीपरिवर्द्धितव्याख्या, पृ. ३
१४४. वही, पृ. ५
१४५. वही, पृ. ३०-३१
१४६. वही, पृ. ५१-५२
१४७. वही, पृ. ७४

—(डॉ० मङ्गलाराम)
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज०)

जैन परम्परा में स्तूप

▣ अमरसिंह

संभवत: स्तूप मिट्टी का बड़ा ढेर या थूहा होता था, जो किसी महापुरुष के चिता-स्थान या उसके शरीर, धातु अवशेषों को लेकर बनाया जाता था। यह परंपरा वैदिक काल से ही चली आ रही थी। कालांतर में स्तूपों का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से माना जाने लगा। **विनय पिटक** के अनुसार आनन्द ने बुद्ध से उनके महापरिनिर्वाण के पूर्व पूछा था कि उनकी मृत्यु के बाद उनके अवशेषों पर किस प्रकार का स्मारक बनाया जायेगा। इस पर बुद्ध ने कहा था —'जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा के लिए चार महापंथों के मिलने से बने चौराहे पर स्तूप बनाया जाता है वैसे ही चतुष्महापंथ (चातु-महापदे) पर तथागत के लिए स्तूप बनाना चाहिए'—इससे भी स्पष्ट है कि यह प्रथा बुद्ध से पहले से ही चली आ रही थी।

बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनकी अस्थियों को आठ भागों में विभाजित करके आठ स्तूप बनवाये गये। कालातर मे सम्राट् अशोक ने इनमे से सात स्तूपों को खुदवाकर और उपलब्ध अवशेषों का बंटवारा करके उन पर बहुत से स्तूप बनवाये। अशोक को ८४ हजार स्तूप बनवाने का श्रेय दिया जाता है। बाद में बौद्ध धर्म मे स्तूपो का महत्त्व बढ़ने लगा और बुद्ध के प्रमुख शिष्यों, अनु-यायियों तथा बौद्ध भिक्षुओं के अवशेषों पर भी बहुत बड़ी संख्या में स्तूप बनाये गये। यद्यपि प्रारम्भ में स्तूप बुद्ध के परिनिर्वाण का प्रतीक था, परन्तु बाद में वह स्वयं एक पूजा की वस्तु बन गया। बौद्ध धर्म में मूलत: तीन प्रकार के स्तूपों की परम्परा मिलती है—

१. **शारीरिक स्तूप**—ये शरीर के अंगों जैसे दांत, केश, अस्थियों आदि पर बनाये गये।

२. **पारिभोगिक स्तूप**—ये उपयोग की गयी वस्तुओं जैसे भिक्षापात्र, चीवर, पादुका आदि पर बनाये गये।

३. **उद्देशिक स्तूप**—ये बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित स्थानों तथा बौद्ध तीर्थों पर निर्मित किये गये।

बौद्धों के समान जैन धर्म में भी स्तूपों की परम्परा मिलती है। साहित्यिक अनु-शीलन से ज्ञात होता है कि जैनों के स्तूप **अयोध्या, हस्तिनापुर, पाटलिपुत्र, पेशावर, तक्षशिला, पावा, कोटिकापुर और मथुरा** आदि स्थलों पर विद्यमान थे। भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् मगध नरेश नन्दिवर्धन ने अयोध्या

मथुर के मणिपर्वत पर एक ऊंचे स्तूप का निर्माण करवाया था।[1] एक अन्य अनुश्रुति से पता चलता है कि जैन तीर्थंकर महावीर हस्तिनापुर में पधारे थे। उसी समय वहां के तत्कालीन राजा शिवराज अपने कुटुम्बियों और अनुचरों के साथ उनका शिष्य हो गया था और उनके पदार्पण की स्मृति में हस्तिनापुर में एक स्तूप का निर्माण करवाया था।[2] तीत्थोगाली पइण्णय से इस बात का पता चलता है कि किसी समय पाटलिपुत्र भी जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था और नन्द राजाओं ने वहां पर पाच जैन स्तूप बनवाये थे, जिन्हें कल्कि नामक किसी दुष्ट राजा ने धन के लालच में खुदवा डाला था।[3] कनिष्क के समय मे पेशावर में भी एक जैन-स्तूप होने का विवरण मिलता है। धार्मिक होने के कारण कनिष्क ने स्तूप को एक बार प्रणाम किया, परन्तु उसके प्रणाम करते ही यह स्तूप भग्न हो गया क्योंकि उस राजा को प्रणाम करने का उच्च अधिकार ही प्राप्त नहीं था।[4] एक अन्य जैन अनुश्रुति के अनुसार तक्षशिला भी जैन सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र था और संभवतः यहां भी जैन स्तूप का अस्तित्व विद्यमान रहा होगा।[5] भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् पावापुरी में भी देवों द्वारा निर्मित एक स्तूप के निर्माण का उल्लेख जैन शास्त्रो मे मिलता है।[6] राजावली कथा में उल्लेख आया है कि आचार्य भद्रबाहु के गुरु गोवर्धन महामुनि कोटिकापुर में जम्बुस्वामी के स्तूप का दर्शन करने के लिए अपने शिष्य-समुदाय के साथ गये थे।[7] अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का निर्वाण ४६५ ई०पू० में माना जाता है।[8] अतः इसी समय कोटिकापुर में जम्बू-स्वामी के स्तूप का निर्माण हुआ होगा।

जैन ग्रंथ व्यवहारसूत्र-भाष्य तथा विविधतीर्थकल्प के अनुसार मथुरा में सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का पदार्पण हुआ था। उस समय उनकी पूजा के लिए कुबेरा यक्षी तथा यक्ष आदि देवों ने रातों-रात स्वर्ण के एक विशाल रत्न-जटित स्तूप की रचना की थी।[9] यह स्तूप देवमूर्तियों, ध्वज, तोरण, मालाओं तथा तीन छत्रों से अलंकृत था। उसमें तीन मेखलाएं थीं। प्रत्येक मेखला के चारों ओर देवमूर्तियां थीं।[10] कालान्तर में तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ (८७७-७७७ ई.पू.) के समय में इस देवनिर्मित स्तूप को ईंटों से आच्छादित किया गया।[11] व्यवहारसूत्र-भाष्य के अनुसार बौद्ध लोग इस जैन स्तूप को अपना बताकर उस पर अधिकार करना चाहते थे, परन्तु तत्कालीन राजा ने जैन संघ के पक्ष में निर्णय दिया।[12] तीर्थकल्प से यह भी पता चलता है कि भगवान महावीर के लगभग १३०० वर्ष बाद मथुरा के इस स्तूप का जीर्णोद्धार बप्पभट्टिसूरि (८ वीं शताब्दी ई.) ने करवाया था।[13] जैन अनुश्रुतियों के अनुसार अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का निर्वाण (४६५ ई. पू.) मथुरा में ही हुआ था। उन्होंने यहीं तपस्या की थी तथा अन्जन चोर नामक दस्युराज और उसके ५०० साथियों को अपना शिष्य बनाकर जैन धर्म में दीक्षित किया था। ये सभी जैन मुनि तपस्या करते हुए मथुरा में ही सद्गति को प्राप्त हुए और उनकी स्मृति में यहां ५०० या ५०१ स्तूप निर्मित किये गये थे। इन स्तूपों को १६ वीं शताब्दी ई० तक विद्यमान रहने तथा इनके जीर्णोद्धार कराये जाने के संकेत जैन साहित्य में मिलते हैं।[14]

उपर्युक्त जैन स्तूपों में से मथुरा में "देवनिर्मित" स्तूप के अतिरिक्त अन्य किसी

स्तूप के पुरावशेष आज उपलब्ध नहीं हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि जैन धर्म में स्तूपों को वह महत्व प्राप्त नहीं था जो बौद्ध धर्म में था। भगवान बुद्ध के समान किसी तीर्थंकर ने अपने धातु अवशेषों पर स्तूप बनवाने की बात नहीं कही। अधिकतर स्थानों पर स्तूप तीर्थंकरों के आगमन की स्मृति में ही निर्मित किये गये। उनका तीर्थंकरों के परिनिर्वाण से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह हो सकता है कि कुछ तीर्थंकरों या जैन मुनियों की स्मृति में समाधियां या स्तूप बनाये गये हों और उन्हें पवित्र भी माना जाता रहा हो। उनमें से कुछ बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण भी रहे होंगे, परन्तु वे जैन मुनियों के लिए अपरिहार्य नहीं थे। जैन धर्म में बौद्धों की भांति तीर्थंकरों की मूर्तियों के निर्माण और पूजा-अर्चना की मनाही नहीं थी। महावीर स्वामी की मूर्ति उनके जीवन काल में ही निर्मित की गयी थी, जो 'जीवंत स्वामी' नाम से जानी जाती थी।[१५] खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में नन्दों के समय में जिन प्रतिमा के होने का उल्लेख मिलता है।[१६] लोहानीपुर (पटना) की मूर्ति को कुछ विद्वानों ने जैन तीर्थंकर की प्राचीनतम प्रतिमा माना है।[१७] इस प्रकार जैन अपनी आस्था और भक्ति की तुष्टि तीर्थंकर मूर्तियों और आयागपट्टों पर अंकित मांगलिक चिह्नों की पूजा से कर सकते थे। कालांतर में उन्होंने हिन्दुओं की भांति मूर्तियों की स्थापना के लिए मंदिरों का निर्माण आरम्भ कर दिया। अत: उन्हें पूजा-उपासना के लिए स्तूपों की आवश्यकता नहीं रही। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का मानना है कि अशोक के प्रभाव और फिर कुषाण राजाओं की बौद्ध परस्त नीति के कारण समाज में बौद्धों का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। परिणाम स्वरूप कुछ जैन स्तूपों पर बौद्धों का अधिकार संभावित हो सकता है। इसके संकेत जैन परम्परा में यत्र-तत्र मिलते हैं। पाटलिपुत्र में नन्दों द्वारा पांच जैन स्तूप बनवाने का उल्लेख मिलता है।[१८] ह्वेनसांग ने इन स्तूपों को भग्नावस्था में पाटलिपुत्र के पश्चिम में देखा था, परन्तु वह इन्हें बौद्ध स्तूप कहता है।[१९] कलिंग की खण्डगिरि गुफाएं और वहां के अन्य पुरावशेष जैन धर्म से सम्बन्धित हैं, परन्तु वहां के स्तूप बौद्ध माने जाते हैं, जबकि कतिपय विद्वानों के अनुसार इन्हें "जैन स्तूप" होना चाहिए।[२०] तक्षशिला के सिरकप टीले के उत्खनन से प्राप्त तथाकथित बौद्ध स्तूप की रचना मथुरा के जैन स्तूप के समान है। इस आधार पर कुछ विद्वान इसे भी जैन स्तूप मानते हैं, जिसे कुषाणों द्वारा निर्मित किया गया होगा।[२१] यही हाल पेशावर के जैन स्तूप का भी हो सकता है जो कनिष्क के प्रणाम करते ही ध्वस्त हो गया था। मथुरा के देवनिर्मित स्तूप को लेकर भी बौद्धों और जैनों के बीच हुए झगड़े का उल्लेख जैन साहित्य में मिलता है, जिसके परिणाम स्वरूप बौद्धों ने छ: महीने तक "जैन स्तूप" पर अधिकार बनाये रखा परन्तु राजा द्वारा जैनों के पक्ष में निर्णय दिये जाने के कारण अन्तत: उनकी विजय हुई और मथुरा का देवनिर्मित जैन स्तूप बच गया।[२२] ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय मथुरा के जैन मुनियों का माथुर संघ बहुत अधिक शक्तिशाली एवं प्रभावी था। अत: वह स्तूप की रक्षा करने में सफल रहा।

साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि मथुरा का कंकाली

टीला जैन धर्म और कला का प्रमुख केन्द्र था।[१४] इस स्थल के उत्खनन से जैन स्तूपों के अवशेष, अनेक अभिलेख तथा अत्यधिक मात्रा में शिल्प सामग्री प्राप्त हुई है।[१५] इसके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि कंकाली टीले पर लगभग दूसरी शताब्दी ई. स. पूर्व से लेकर कम से कम ग्याहरवीं शताब्दी तक जैन स्तूप तथा मंदिर आदि विद्यमान थे।[१६] यहां से प्राप्त मूर्तियों और लेखों से यह भी पता चलता है कि मथुरा में वस्तुत: जैनों के दो स्तूप थे— एक शुंगकाल का तथा दूसरा कुषाणकाल का।[१७] शुंगकालीन स्तूप का विवरण स्मिथ ने प्रस्तुत किया है, जिसका व्यास ४० फुट ६ इंच था। यह स्तूप ईंटों से निर्मित था तथा इसकी आधार शिला तक्षशिला के धर्म-राजिका स्तूप के समान केन्द्र से बाहर की ओर जाती हुई आरेनुमा दीवारों पर स्थित थी। ऐसी ही आधारशिला की रचना कनिष्क द्वारा निर्मित पेशावर के स्तूप में भी पाई गई है। शुंगकाल में निर्मित मथुरा का यह जैन स्तूप कुषाणकाल में भी विद्यमान था।[१८] बहुत संभव है इसका मूल स्वरूप इससे भी अधिक प्राचीन रहा हो, जैसा कि विविध तीर्थ-कल्प से सकेत मिलता है।[१९] यहां से प्राप्त मुनि सुव्रत की एक प्रतिमा पर अंकित लेख मे स्तूप को "देवनिर्मित" कहा गया है जो इसकी प्राचीनता की ओर संकेत करता है।[२०]

कंकाली टीले से जो आयागपट्ट तथा अन्य शिलाखण्ड प्राप्त हुए हैं। उनमें से कुछ पर छोटे आकार के स्तूप उत्कीर्ण है।[२१] इन्हें देखकर जैन स्तूपों के आकार-प्रकार का अनुमान लगाया जा सकता है। एक शिलापट्ट पर अंकित स्तूप अर्धचन्द्राकार है, जिसे नीचे से ऊपर की ओर घटता हुआ बनाया गया है। इस पर एक भू-वेदिका तथा दो मध्य वेदिकाएं प्रदर्शित हैं। सबसे ऊपर हर्मिका है, जो छोटी वेदिका एवं छत्रों से युक्त है। किन्नर और यक्ष सुपर्ण स्तूप की पूजा करते हुए दिखलाए गये हैं। संभवत: मथुरा का प्राचीनतम देव निर्मित स्तूप इसी प्रकार का रहा होगा। इसकी तिथि डा० अग्रवाल ने द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व के आरम्भ मे निर्धारित की है।[२२] शुंगकालीन स्तूप के तोरण पर दो अभिलेख भी मिले हैं। इनमे पशुशीर्ष युक्त दो स्तम्भों के आयागपट्ट पर एक ओर किन्नर सुवर्णो द्वारा पूजा करता हुआ अंकित है। तथा दूसरी ओर श्रावक परि-वार हाथी, घोडों के रथों में सवार होकर स्तूप-पूजा के लिए जाते हुए दिखलाये गये हैं। एक तोरण के दोनों ओर दो शालभजिकाएं भी अंकित हैं।[२३]

मथुरा के एक अन्य आयागपट्ट पर एक जैन स्तूप का चित्र उत्कीर्ण है, जिसका अण्ड भाग लम्बोतरा है। इस स्तूप में प्रथम मेधि तक जाने के लिए एक सोपान बना है। इसके अतिरिक्त भू-वेदिका और तोरण-द्वार भी प्रदर्शित हैं। द्वार में तीन भारपट्ट और शालभंजिकाएं दर्शनीय हैं। चित्र में स्तूप का प्रदक्षिणापथ तथा दोहरी वेदिकाओं से युक्त लम्बोतरा अण्ड भी दिखलाया गया है। शैलीगत विशेषताओं के आधार पर डा० अग्रवाल ने इसे कुषाणकालीन माना है।[२४]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैन स्तूपों की रचना भी लगभग वैसी ही की जाती थी जैसी बौद्ध स्तूपों की। इनका 'अण्ड' भाग उल्टे कटोरे या बड़े बुलबुले के समान अर्धचन्द्राकार लम्बोतरा होता था, जिसे गोल चबूतरे या मेधि पर बनाया जाता

था। अण्ड के शीर्ष पर हर्मिका और छत्रावली होती थी। मेधि की चारों दिशाओं में तीर्थंकरों की मूर्तियां स्थापित की जाती थीं। स्तूप को वेदिका से घेरकर उसके साथ सभी दिशाओं में तोरणद्वार बनाये जाते थे। इनमें प्रायः चार वेदिकाओं के उदाहरण मिलते हैं। मध्य वेदिका तक जाने के लिए सोपान होता था। वेदिका का निर्माण स्तम्भ, सूची और उष्णीष के योग से किया जाता था। साथ में पुष्पग्रहणी वेदिकाएं भी निर्मित की जाती थीं। स्तूप, वेदिका और तोरण के अलंकरण के लिए विभिन्न प्रकार की मूर्तियों, शालभंजिकाओं, उद्यान-क्रीड़ा और सलिल-क्रीड़ा में रत नव-युवतियां, यक्ष-यक्षियां, अप्सराएं, अनेक प्रकार के मांगलिक प्रतीकों से युक्त आयागपट्टों आदि का प्रयोग किया जाता था। जैन वेदिका स्तम्भों का अलंकरण बौद्ध स्तूपों की भांति ही किया है। वेदिका स्तम्भों पर जन-जीवन के दृश्य भी प्रदर्शित किये गये हैं। परंतु शुंगकालीन स्तूप की वेदिका के स्तम्भ अपेक्षाकृत कुछ ऊंचे थे और उन पर बहुसंख्यक खिले हुए पद्म बने हुए थे, जिसके कारण उसे "पद्मवर" वेदिका कहा जाता था।[९]

●

संदर्भ :

१. जैन, ज्योति प्रसाद, उत्तर प्रदेश और जैन धर्म, पृ. ३२

२. वही, पृ. ४३।

३. जोशी, नी पु, जैन स्तूप और पुरातत्त्व, भगवान महावीर स्मृति-ग्रन्थ, आगरा, १९४८-४९, पृ. १८३, तित्थोगाली पइण्णया-कल्कि प्रकरण।

४. वही, पृ. १८५ वा से. G.K. Nariman, Literary History of Sanskrit Buddhism, Bombay, 1923, p. 197.
डॉ. मोतीचन्द द्वारा उद्धृत, प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ. २३८।

५. डा. मोतीचन्द्र, प्रेमी-अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ २४३।

६. जोशी, ना. पु. भगवान महावीर स्मृति ग्रंथ, पृ. १८३।
पावापुरी तीर्थ का प्राचीन इतिहास, पृ. १।

७. जोशी, नी. पु, वही, पृ १८३।

८. जैन, ज्योति प्रसाद, उत्तरप्रदेश और जैनधर्म, पृ ५३।

९. व्यवहारसूत्र-भाष्य, ५, २७-२८, विविध कल्पसूत्र सं. जिनविजय, पृ. १७-१८, जोशी, नी. पु., भगवान महावीर-स्मृति ग्रन्थ, पृ. १८५, १८६, जैन, ज्योति प्रसाद, उत्तर प्रदेश और जैनधर्म, पृ. ५३।

१०. वही।

११. वही।

१२. वही।

१३. वही।

१४. जैन, ज्योति प्रसाद, उत्तर प्रदेश और जैनधर्म, पृ. ५३।

१५. शाह, यू पी. स्टडीज इन जैन आर्ट, बनारस, १९५५, पृ. ४-५।

१६. प्राचीन भारतीय अभिलेख सग्रह, खड-१, जयपुर।

१७. प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, पटना, १९७७।
पृ. २१०

१८. जोशी नी.पु. भगवान महावीर-स्मृति-ग्रंथ, पृ. १८३।

१९. वही, Watts, on yuan chawang's Travels in India, P. 96.

२०. जोशी, नी. पु., वही, पृ. १८४
Chimmanlal Shah, Jainism in North India, pp. 157-158 and 148-149

२१. डा. मोतीचन्द्र, प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रंथ, पृ. २४३।

२२. वही, पृ. २३८।

२३. जैन, ज्योति प्रसाद, उत्तर प्रदेश और जैन धर्म, पृ. ५३, व्यवहार सूत्र-भाष्य ५, २७-२८।

२४. विविधतीर्थकल्प, पृ. १७ Smith, V A., The Jain Stupa and other antiquities of Mathura pp 12-13

२५. Archaeological Survey of India Reports, 1881-72, vol-3 Varanasi, 1966, Pp 45-46.

२६ बाजपेयी, कृष्णदत्त, मथुरा का देवनिर्मित बौद्ध स्तूप, भगवान महावीर स्मृति-ग्रंथ, आगरा, १९४८-१९४९, पृ १९१; Shah, U.P., Studies in Jain Art p.9.

२७. अग्रवाल, वा.श. भारतीय कला, पृ. २२३।

२८. Smith, V A , The Jain Stupa and other antiquities of Mathura Allahabad, 1901.

२९. अग्रवाल, वा.श., भारतीय कला, पृ. २३७।

३०. वही, पृ. २३७।

३१. Smith, V.A., The Jain Stupa and other antiquities of Mathura plates ix, xii, xv, xvii, xx, Mathura Museum Guide Book Plates, Lucknow Museum Exhibit J, 248, J 250, J. 252, J. 253, J 255

३२. अग्रवाल, वा.श., भारतीय कला, पृ. २२६।

३३. वही, पृ. २२७।

३४. वही, पृ २२६।

३५. वही, पृ. २२३-२२७।

—डा० अमरसिंह
प्रवक्ता,
प्राचीन भारतीय इतिहास एवं
पुरातत्व विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ-१

'ओसिया' का महावीर-मन्दिर और उसका वास्तुशिल्प

■ शशिबाला श्रीवास्तव

भारत के मरुस्थलीय अचल मे अवस्थित ओसिया ग्राम के प्राचीन मन्दिर सिकता राशि के अनन्त विस्तार मे एकाकी खडे हुए अपने अतीत की गौरव गाथा सुना रहे हैं ।[1] यह स्थल जोधपुर से पोखरण के मार्ग पर बत्तीस मील दूर स्थित है तथा सम्पूर्ण राजस्थान में "ओसवाल" वणिको के मूल निवास के रूप में सुविदित है । जैन ग्रंथों में यह "उपकेश पट्टन" के नाम से उल्लिखित है । "ओसिया" नाम की इस नगरी के विषय मे एक महत्वपूर्ण रोचक दन्तकथा प्रचलित है कि शत्रु द्वारा पराजित परमार नरेश उप्पल दे ने प्रतिहार नरेश के इस क्षेत्र मे शरण पायी थी । अत: स्थल का नाम ओसिया (ढालान मे बने किसी ओसार के कारण) पडा ।[2] जैन संप्रदाय में इस क्षेत्र के सदर्भ मे रोचक लोकधारणा है कि परमार नरेश उप्पल दे ने यहां सच्चिय माता का मन्दिर निर्मित कराया । यही देवी साखला परमारो की कुल देवी थी । अनेक वर्षों के उपरान्त जैन साधु हेमाचार्य के शिष्य रतन प्रभु का इस क्षेत्र में पदार्पण हुआ । उन्होंने एक चमत्कार दिखाया । कहते है, यहां के राजकुमार को एक सर्प ने डस लिया । उस सर्प के विष से राजकुमार को मुक्ति दिलाने हेतु किये गये सभी प्रयास निष्फल हो गए एवं राजकुमार मृतप्राय होने लगा तो संभावित पुत्र शोक से विह्वल नरेश ने घोषणा की कि पुत्र की जीवन रक्षा करने वाले को वे कुछ भी (मंह मांगी वस्तु) दे देंगे । रतन प्रभु ने दरबार मे उपस्थित होकर सर्प का आह्वान किया जिसने राज-कुमार के अग का विष पुन: खीच लिया और राजकुमार स्वस्थ हो गया । तब जैन सन्त रतन प्रभु ने राजा को अपनी प्रजा सहित जैन धर्म स्वीकार कर लेने के लिए कहा और उन्होने जैन धर्म स्वीकार कर लिया परन्तु इन कृत्यो से कुलदेवी सच्चिय माता रूष्ट हो गयी । वे संहार करने लगीं और नाना प्रकार की विपत्तियां प्रजाजनों पर आने लगीं। ऐसी विकट स्थिति में सहासी लोगो ने मा को प्रार्थना की कि वे उन्हें विवाह आदि शुभ कार्य के पश्चात् उनको चढ़ावा चढ़ाने की आज्ञा दें यह प्रार्थना स्वीकार हो गई किन्तु चढ़ावे के बाद मंदिर में रात बिताने की मनाही हो गई ।[3]

प्राचीन उकेश (अर्वाचीन ओसिया) प्रतिहार एव परमार काल से ही समृद्धिशाली नगरी थी । इसके वैभव की पुष्टि यहां के सिकता राशि में निरन्तर धूप वर्षा एवं शीत को सहते हुए खड़े छोटे-बड़े तीस देवालय हैं । पश्चिमी भारत के विभिन्न मन्दिर समूहों में यह मन्दिर समूह सर्वाधिक विस्तृत है जो अधिकांशत: प्रतिहार एवं परमार काल की कला संस्कृति के ज्वलन्त उदाहरण हैं ।

महावीर मन्दिर

ओसिया ग्राम के पश्चिमी सीमा पर स्थित इस जिनालय में वास्तु एवं शिल्प का अद्‌भुत समन्वय दृष्टिगत है। नागर शैली के शैशवावस्था में निर्मित इस क्षेत्र के सभी मन्दिरों के समान ही इस महावीर मन्दिर का वास्तु विन्यास भी अनुपम है। सात देवकुलिकाओं से आवेष्टित इस मन्दिर के वास्तु का तलच्छन्द एवं ऊर्ध्वच्छन्द में सम्यक् विकास परिलक्षित होता है। ऊर्ध्वच्छन्द मे मन्दिर के प्रमुख अग-जगती, अधिष्ठान, मण्डोवर एव शिखर है। सम्पूर्ण देवालय एक विस्तृत परन्तु अन्य वैष्णव मन्दिरो की तुलना मे कम ऊची (लगभग ४-५ फीट) जगती पर स्थापित है। इसके मध्य मे उत्तराभिमुख मुख्य देवालय निर्मित है जिसके दक्षिण पार्श्व मे (पूर्व दिशा में) तीन एवं वाम पार्श्व मे (पश्चिमी दिशा मे) चार लघुमन्दिर हैं जिन्हें जैन वास्तु मे देवकुलिका की सज्ञा से अभिहित किया गया है।[५]

तलच्छन्द मे मन्दिर के अंगों का विकास इसी स्थल पर उपलब्ध वैष्णव मन्दिर के तलच्छद के समान है परन्तु कतिपय विशिष्ट अंगों का कलेवर कालान्तर मे जुडता गया।

१. मूल प्रसाद (गर्भ गृह)—वर्गाकार मूल प्रसाद अथवा गर्भगृह की एक भुजा की लम्बाई ७.७७ मीटर है। चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी की अनुपम प्रतिमा से युक्त यह गर्भगृह गान्धार शैली का सुन्दर उदाहरण है।[६] पंचरथ योजना पर निर्मित इस देवालय के जघा भाग मे भद्ररथ, प्रतिरथ एवं कर्णरथ स्थापित किए गए है। भद्ररथ वृहताकार है जो कर्ण रथों के दो गुने हैं परन्तु प्रतिरथ लघु आकार मे निर्मित है। ऊर्ध्वच्छन्द मे गर्भगृह के पाच प्रमुख अंग हैं - वैदीवन्ध या अधिष्ठान जंघा द्विस्तरीय वरण्डिका एव शिखर—वैदीवन्ध पीठ अथवा गर्भगृह के अधिष्ठान मे छ गहरी मोल्डिग प्रदर्शित है। इसमें अध. भाग से क्रमश भिट्ट, चौड़ा अन्तरपत्र (खन्धर) एवं कपोत (कर्णिका) निर्मित्त है। कपोन अथवा कर्णिका पर चैत्याकार "चन्दशालाएं" एवं अर्ध पद्म का अलकरण अत्यन्त शोभनीय प्रतीत होता है। पुन: अपेक्षया कम चौडी एवं अलकरण रहित अन्तर्पत्र एवं तत्पश्चात् "बसन्तपट्टिका" का अंकन किया गया है। वेदी वन्ध की पाच मौल्डिग यद्यपि स्थल पर उपलब्ध अन्य मन्दिरों के समान ही क्षुरक, कुम्भ, कलश, अन्तर्पत्र एवं कपोत पाच अलंकरणो से अलंकृत है तथापि इस मन्दिर मे कतिपय विशिष्टताएं परिलक्षित होती है यथा कुम्भ मे रथिका स्थित द्विभुज कुबेर, गजलक्ष्मी, वायु तथा मिथुन युग्म कर्णों पर स्थापित है, इसी प्रकार कपोत कलिकाओ द्वारा सुसज्जित किए गए है।

उल्लेख्य है कि स्थल के प्राय सभी मदिर ऊची जगती पर स्थित हैं जिसमें प्रवेश द्वार की ओर से सोपान शृंखला निर्मित है। तत्पश्चात् प्रासाद का अधिष्ठान भाग प्रारम्भ होता है। शिल्प शास्त्रों में [७] इसे "महापीठ" की संज्ञा दी गई है तथा इसके विभिन्न उपांगो जाड्यकुम्भ, कर्णिका, अन्तर्पत्र, कपोताली, गजधर, अश्वधर, नरधर आदि का उल्लेख है। परन्तु ओसिया के अधिकाश मन्दिरो के पीठ (अधिष्ठान) "धर" रहित है। यहा मात्र जाड्यकुम्भ, कर्णिका, केवाल एवं ग्रास पट्टी से युक्त "कामद

पीठ" अथवा जाड्यकुम्भ एवं कणिका युक्त "कर्णपीठ" का ही निर्माण किया गया है। इस विषय में 'प्रासाद मण्डन' नामक ग्रंथ में रोचक तथ्य उपलब्ध होता है। जिसके अनुसार विभिन्न अलंकरणों एवं धरों से युक्त महापीठ बनवाने में द्रव्य का अधिक खर्च होता है, अत: अल्पद्रव्य से बनवाया गया अलंकरण विहीन कामद अथवा कर्णपीठ भी उतना ही पुण्य फल प्रदान करने वाला है।[*]

जघा भाग में उत्तरी दिशा में गर्भगृह का प्रवेश द्वार है शेष पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिमी दिशा मे भद्राओं पर उभरे हुए गवाक्षों का निर्माण किया गया है जो गान्धार शैली के देवालयों का एक अभिन्न अंग है।[८] उल्लेख्य है कि खुजराहों के पार्श्वनाथ मन्दिर में भद्राओं पर जाली निर्मित है परन्तु अन्य शैव एवं वैष्णव मन्दिरों में इसी प्रकार के गवाक्षों का अत्यन्त विकसित स्वरूप उपलब्ध होता है। विवेचित मन्दिर के जंघा पर निर्मित अन्तराल भागों में (भद्र, प्रति एवं कर्णरथों के मध्यवर्ती भाग) "राजसेनक" प्रदर्शित है। कर्णरथो पर द्विभुज दिक्पति प्रतिमाएं उट्टंकित हैं इनमें इन्द्र, अग्नि, यम एवं निऋति उपलब्ध है। यह सभी देव प्रतिमाएं अत्यन्त रोचकता पूर्वक उद्गम से अलकृत चैत्याकार रथिकाओं मे स्थापित हैं।

जंघा के ऊपरी भाग मे अर्धपद्मों से ग्रथित पद्मपट्टिका उत्कीर्ण है। ओसिया के अनेक ब्रह्मण धर्म के मन्दिरों में भी यह अलकरण मिलता है। ऊर्ध्व भाग में वरन्डिका निर्मित है जिसके दुहरे कणिकाओं पर ताल पत्रो से युक्त गहरे कण्ठ बनाए गए हैं।

ऊर्ध्वच्छन्द मे गर्भगृह का सर्वोच्च अंग शिखर है। वर्तमान समय मे यह शिखर "मारूगुर्जर" शैली के शिखर का सुन्दरतम उदाहरण प्रस्तुत कर रहा है।[*] वस्तुत: कर्ण शृंगों एवं उरू शृंगों का पूजीभूति स्वरूप (मुख्य शिखर) प्रतीत होता है। इसकी भद्राओं पर रथिकाओं के स्थान पर गवाक्षों का निर्माण हुआ है। पश्चिम भारत के मन्दिर वास्तु मे यह तत्त्व पर्याप्त परवर्ती युग में समाविष्ट हुआ होगा।

२. गूढ़ मण्डप :—वर्गाकार स्वरूप वाली इस सरचना का विस्तार (चौडाई) १०.६५ मीटर है। भद्र एवं कर्ण रथिकाओं से युक्त यह गूढमण्डप भूमि योजनाओ मे द्वि अंग वाली है। ऊर्ध्वच्छन्द में इसके वरन्डिका तथा मूल प्रासाद वाले मोल्डिग का विस्तार हुआ है जो एक माला के रूप में संपूर्ण देवालय को आवेष्टित किए है। सम्मुखवर्ती कर्ण कुम्भों पर अलंकृत रथिकाओ में यक्षयक्षी युगल प्रदर्शित है। तथा पश्चिमी दिशा में कुबेर स्थापित है। जघा भाग के सम्मुख कर्ण रथों पर उत्तरपूर्वी कोण पर पूर्वी दिशा में जैन यक्ष "ब्रह्म शान्ति" सात फरो के घटाटोप से अलंकृत स्थापित हैं। उत्तर दिशा में (उत्तरमुख) जैन देवी पद्मावती इसी प्रकार उत्तर पश्चिमी कर्ण पर उत्तर मुख रथिका में जैन देवी आच्युप्ता की समभंग चतुभुर्ज प्रतिमा प्रदर्शित है। इसी कोण पर पश्चिम मुख वाली रथिका में चर्तुभुजी चक्रेश्वरी देवी की अत्यन्त कमनीय मूर्ति उट्टंकित है।

जंघा भाग के ही समान गूढ मण्डल का शिखर भी मूर्ति कला एवं वास्तु कला का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत कर रहा है। यह त्रिभूमिक फांसना शैली का शिखर है

जिसमें तीन मंजिल वाली पिरामिड शैली की रूप पट्टिकाओ में प्रदर्शित नृत्यरत विद्याधरो एवं गंधर्वों की नृत्यरत वाद्ययन्त्रो को बजाती मूर्तियां शिखर की शोभा वृद्धि कर रही हैं। शिखर के चतुर्दिग् शृंग निर्मित है। भद्रों के गवाक्षों के ऊपरी भाग में परिक्रमा युक्त रथिकाओ का निर्माण हुआ है। जिसमे उत्तरी दिशा में आसन मुद्रा में सर्वानुभूति तथा पूर्व पश्चिम मे अन्य जिन देवता स्थापित है। इस शिखर के चतुष्कोणो पर अत्यन्त अलंकृत कर्णकूर प्रदर्शित है। त्रिखण्डी शिर के तृतीय खड में प्रत्येक पार्श्व में मात्र एक-एक सिंहकर्ण उत्कीर्ण है। जिसके मध्य मे एक-एक जिन देवता की आसीन प्रतिमाएं स्थापित हैं। तत्पश्चात् सादा अर्न्तपत्र तथा स्कन्ध देवी निर्मित है। एक लघु ग्रीवा विशाल घण्टा तथा कलश शिखर के सर्वोच्च भाग मे प्रदर्शित है। परन्तु यह सभी मूल संरचनाए नहीं है।

३. मुखमण्डप :—मुखमण्डप का वर्तमान युग मे प्राचीन खण्डो द्वारा ही पुनर्निर्माण हुआ है परन्तु इसके मौलिक स्वरूप मे इस कारण पर्याप्त अन्तर आया है यहां तक कि मूल मुख चतुष्की भी इसी अग मे समाविष्ट हो गयी है। मन्दिर के इस अंग में चतु पक्तियो मे छ अलंकृत स्थल स्थापित है। इस प्रकार इनकी पूर्ण सख्या चर्तुविंशति हुई जिनका जैन सम्पदाय मे महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है इसके ऊपर मूलमण्डप के समान ही फांसना शैली का शिखर स्थापित है।

मुखमण्टप का शिखर द्विखण्ड युक्त है, फासना शैली का है। इसके खुले हुए उत्तरी कोण पर प्रासादिका (लघु मन्दिर) का अंकन है। मूल मण्डप के समान यहा भी सिंह कर्ण निर्मित है। पूर्वी दिशा मे तीन अलकृतरथिका मे एक रूप पट्टिका के रूप मे जैन यक्षी एव विद्याधरी प्रदर्शित है, मध्य मे मानसी एवं पार्श्व मे ज्वालादेवी तथा "पुरुषदत्ता" अंकित है। उत्तरी दिशा की इन रथिकाओ मे मध्य मे वरोट्या तथा पार्श्व मे गौरी एवं मानसी स्थापित है। इसी प्रकार पश्चिमी सिंहकर्ण की रूपपट्टिका मे महाकाली मध्य मे एव पार्श्ववर्ती रथिकाओं मे चक्रेश्वरी तथा वाग्देवी उपस्थित है।

मुख चतुष्की :—यह लघ्वाकार संरचना ह जो अनेक शताब्दियों मे पुर्ननिर्माण किये जाने के कारण अब प्राय' मुख मण्डप का ही अग प्रतीत होता है। इसका शिखर भी द्विखण्ड वाला फांसना शैली का है। इसके सर्वोच्च भाग पर घण्टा स्थापित है तथा कोणों पर "नागर कूट" प्रदर्शित है। इसके तीन दिशाओ मे तीन-तीन रथिकाओं में देवाकृतिया स्थापित हैं। पूर्वी दिशा की पेडिमेन्ट मे महाविद्यावाली, महामानसी एवं वरूण यक्ष अंकित है। उत्तरी दिशा मे यक्ष सर्वानुमूति, ऋषभनाथ तथा यक्षी में अम्बिका प्रदर्शित है। अवशिष्ट पश्चिमी दिशा मे पेडिमेन्ट मे मध्य मे रोहिणी (जैन देवी) तथा पार्श्व में वज्र शृखला उट्टकित है।

कपिली अथवा अन्तराल : गर्भगृह एवं मूल मण्डप को जोडने वाली यह वास्तु संरचना पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। इसके भी ऊर्ध्वच्छन्द मे गर्भगृह वाली मोल्डिग का विस्तार उपलब्ध होता है। इसके पूर्वी एवं पश्चिमी दिशाओं मे कुम्भ निर्मित है। पूर्वी दिशा पर सूर्य देवता की भव्य मूर्ति स्थापित है। पश्चिमी दिशा की देव प्रतिमा

की पहचान स्पष्ट न हो सकी। जंघा भाग पर पूर्व में ईशान तथा पश्चिम में वरुण है। इसके वरण्डिका पर बृहदाकार "प्रासाद पुत्र" स्थापित है। उल्लेख्य है कि यह तत्त्व पश्चिम भारत में पन्द्रहवी शती में प्रचलित था।

आभ्यन्तर भाग :—बाह्य भाग के समान ही आभ्यन्तर भाग में भी उल्लेखनीय तत्त्व विद्यमान हैं। गर्भगृह के आन्तरिक भाग में तीन बृहदाकार रथिकाएं निर्मित हैं परन्तु सभी मूर्ति रहित हैं। इसके द्वारों को भी शीशें एवं रंगों से वर्तमान समय में अलंकृत कर दिया गया है। उल्लेख्य है कि पहाडी पर स्थित सच्चियमाता मन्दिर में भी यही स्थिति है। यहां निर्मित प्रायः सभी स्तंभ मद्रक शैली के है अन्तराल एवं मण्डप की छत रंगों से अलंकृत है तथा अन्तराल की दोनों रथिकाएं भी रिक्त हैं। शाला के चारों स्तम्भ वर्गाकार (रूपका शैली) बने हैं जिनके किनारे काट दिए गए हैं। इन पर घटपल्लव, नाग पाश लिए आवक्ष नाग आकृतियां एवं ग्रासमुख अभिप्राय अलंकृत है। मण्डप की छत नाभिछन्द शैली की है जिनमें गजतालु आकृतियां चाप के आकार में प्रदर्शित की गई हैं।

भद्राओं के गवाक्षों के आभ्यन्तर भाग पर रथिकाओं में जैन देव समाहृत अंकित था परन्तु वर्तमान समय मे मात्र गूढमण्डप के दो रथिकाओ में कुबेर एवं वायु दो देव उपस्थित है (इस प्रकार छः दिक्पाल बाह्य भाग पर एवं दो आन्तरिक भाग में कुल मिलाकर अष्ट रथिकाओ की आठ संख्या पूर्ण करते हैं)।

गूढ़ मण्डप के चैत्याकार गवाक्षों मे (सूरसेनक) देव प्रतिमाएं हैं। इन पर उत्तर पूर्व से उत्तर पश्चिम की ओर क्रमशः रोहिणी, वंशेट्या, महामानसी एवं निर्माणी प्रदर्शित हैं। प्रत्येक भद्र के ऊपरी भाग में रथिकाओं में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की उनके पाश्वचरो के साथ भव्य मूर्तियां स्थापित है। यहीं एक रूप पट्टिका में जो माला के समान चतुर्दिक प्रदर्शित है, जैन तीर्थंकरों को अंकित किया गया है।

गूढ मण्डप के प्रवेश द्वार का अलंकरण त्रिशल शैली का है जिसकी प्रथम शख (वाह्यशख) पद्मपत्तों से मध्यवर्ती शख (वल्वशाखा) रत्न अलंकरण एवं तृतीय (अन्तरिक) सादी है। उल्लेख्य है कि शिल्प शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि मंदिर के भित्ति जितनी रथिकाओं से युक्त हो उसके द्वारों पर उतने ही शखों का अंकन करना चाहिए। खजुराहो आदि में तो वैष्णव मन्दिर देवी जगदम्बी नव रथ योजना पर निर्मित है तथा उसमें द्वार नवशखों का प्रदर्शन हुआ है। विभिन्न मन्दिरों के अवलोकन से यह तथ्य उद्भाषित भी होता है। ओसिया के प्रायः सभी मन्दिरों के द्वारों पर आवक्ष नाग आकृतियां प्रदर्शित हैं। जिनमें कुछ को ललाट बिम्ब स्थित गरुड़ अपने पंजों में पकड़े हैं। परन्तु यहां जैन मन्दिर होने के कारण द्वार शख का अलंकरण पूर्ण रूपेण भिन्न है तथापि द्वार शखों पर सभी सम्प्रदायों के मन्दिरों के समान ही गंगा एवं जमुना उट्टंकित की गयी है। द्वार उत्तरड़े के मध्यभाग में ललाट बिम्ब पर जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति सुशोभित है।

मुखमण्डप के स्तभों पर भी घट पल्लव, विद्याधर पंक्ति एवं सर्वानुभूति सदृश देव आकृतियों का प्रदर्शन हुआ है।

४. तोरण :—मुख मण्डप के सम्मुख भाग में मूर्ति एवं वास्तु कला का आश्चर्यजनक समन्वित रूप तोरण के रूप में उपलब्ध होता है। खजुराहो में सभी मन्दिरों के प्रवेश द्वार पर मकराकृति तोरण निर्मित है और वे अर्धमण्डप से जुड़े हैं परन्तु उड़ीसा स्थित भुवनेश्वर मन्दिर का तोरण ओसिया के तोरण द्वार से तुलनीय है। विवेचित तोरण द्वार के उत्तर पर एक अभिलेख अंकित है जिसके अनुसार १०१८ में इनका निर्माण हुआ था। इसके दोनों स्तम्भ महापीठ पर स्थापित हैं। तदुपरान्त पश्चिमी भारत शैली के अनुरूप भिट्ट, छज्जिका जाड्यकुम्भ पुन. छज्जिका, ग्रास-पट्टिका गजपीठ, नरपीठ कुम्भ एवं कुम्भिका क्रमशः निर्मित है। कुम्भिका पर चतु: दिशाओं में जैन तीर्थकरों की मूर्तियां सुशोभित हैं। इस स्तम्भ के जंघा भाग पर जीवन्त स्वामी महावीर का चतु. दिशाओं मे प्रदर्शन हुआ है। तोरण के उत्तरंग पर दोनों पार्श्व में तिलक एवं घण्ट तथा मध्य में वृहदाकार तिलक आकृति की संरचना है जिसमें जिन देवता स्थापित है जो मन्दिर के मुख्यईष्ट देवता को प्रदर्शित करते है। इसके दोनों पार्श्व में विशाल मयूर अपनी ग्रीवा मोडकर बैठा हुआ प्रदर्शित है।

भ्रमणिका :—मूल मन्दिर के पृष्ठ भाग मे अष्ट स्तम्भो पर आश्रित यह संरचना है।

वालानक :— तोरण से कतिपय दूरी पर (कुछ मीटर) एक वृहदाकार वर्तुल चन्दोवा अथवा गोलाम्बर का निर्माण हुआ है जो सोपान शृंखला के तुरन्त ऊपर है। इस अंग का भी अनेक चरणों में पुन निर्माण होता रहा। उल्लेख्य है कि उक्त स्थल पर मेरे प्रवास के समय इसका निर्माण कार्य चल रहा था तथा स्तम्भों पर आश्रित वर्तुलाकार छत की संरचना इस प्रकार की जा रही थी मानो अपने मूर्ति शिल्प एव वास्तु की दृष्टि से वह आबू स्थित विमल मन्दिर के चन्दोवा की प्रतिकृति ही हो। भण्डारकर, ढाकी एवं प्रो. हॉण्डा ने भी उसके पुर्ननिर्माण के अनेक चरणों का उल्लेख किया है। वृहदाकार चन्दोवा के अनेक स्तम्भों में से कतिपय प्राचीन स्तम्भ ही लगाये गये हैं। परन्तु कतिपय स्तम्भ पूर्णत. नवीन भी लगा दिये गये है। षोडश अफसराओं को इसके रूप कण्ठ पर अंकित किया है। कतिपय स्तम्भो पर अभिलेख अंकित है। जो प्राय. विक्रमी संवत १२३१ के है। इनमें उत्तरी दिशा मे रथिका अंकित अभिलेख अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह जैन मन्दिर प्रशस्ति अभिलेख (वि. सं १०१३) के नाम से प्रसिद्ध है।[11]

उभयमुखी चतुष्की :—मूलत. यह अंग वालानक के पूर्वी छोर पर निर्मित था परन्तु वर्तमान समय मे यह नष्ट हो चुका है तथा मात्र नवनिर्मित वालानक में मुख्य मार्ग से प्रवेश के समय एक लघु चतुष्की स्वरूप निर्मित है।

५. देवकुलिकाएं : -मन्दिर के प्रांगण मे सात लघु देवालय अवस्थित हैं जिन्हें जैन धर्म के अनुसार देवकुलिका की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इनमें मुख्य मन्दिर के दक्षिण पार्श्व में अर्थात् पूर्वी दिशा मे तीन तथा वामपार्श्व (पश्चिमी दिशा) में चार देवकुलिकाए है। यह सभी मन्दिर मूर्ति एव वास्तु के विशिष्ट स्वरूप को

प्रदर्शित कर रहे हैं। यह तलच्छन्द एवं ऊर्ध्वच्छन्द मे पंचरथ योजना पर निर्मित है। सभी जगती पर स्थित है जिसे भिट्ट, खुरशि, जाड्यकुम्भ (पद्मपत्र से अलकृत) वर्णिका, ग्रासपट्टिका, छज्जिका, गजपीठ एवं नरपीठ द्वारा अलंकृत किया गया है। (पूर्व पार्श्व की दूसरी नरपीठ पर महावीर स्वामी की जीवन लीलाओ के तथा माता त्रिशला का स्वप्न, महावीर का जन्म एवं तपस्या आदि का विशिष्ट अंकन हुआ है। कटि भाग मे वेदीबन्ध, जंघा एवं वरण्डिका का निर्माण हुआ है। वेदीवन्ध मे छूरक, कुम्भ, अन्तर्पत्र कलश एवं कपोत प्रदर्शित हैं। देवकुलिका स० २ मे कुम्भ भद्रों पर जैन महाविद्याओं एवं यक्ष-यक्षिणियो की सुन्दर प्रतिमाए स्थापित हैं। इस उत्तरी तथा पूर्वी दिशा में रोहिणी, वैरोट्या तथा अच्युप्ता है। कर्णी पर अम्बिका तथा ज्वालामालिनी है एवं कपिला पर उत्तरी दिशा मे चन्द्रेश्वरी तथा दक्षिणी मे यक्ष ब्रह्मशान्ति उपस्थित है। दक्षिणी पूर्वा कोण पर यक्ष कुबेर स्थापित है।

गर्भगृह के सम्मुख लघु चतुष्की निर्मित है जो स्तम्भों पर आश्रित है। यह घट पल्लव, कड़ी एवं घण्टिका एव पूर्ण विकसित पद्म सदृश अलंकरण अभिप्रायों से अलंकृत है। चतुष्की का वितान (चन्दोवा) नाभिच्छन्द शैली का निर्मित है जिसके ऊपर संरगा-शैली (घण्टा अलकरण) का शिखर है जिसके मध्यवर्ती रथिकाओ में जिन देवताओं की तथा पार्श्व मे अन्य देवता स्थापित है। ☐

संदर्भ

१. लोक विश्वास के अनुसार ओसिया अपने समृद्धिपूर्ण युग मे विशाल क्षेत्र में विस्तृत नगर था जिसके अन्न एवं तेल का बाजार १६ मील दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व में स्थित क्रमशः मथानिया एव तिवरी नामक स्थल थे। इतना ही नहीं इस सुसमृद्ध नगर के अनेक द्वारों में से मुख्य प्रवेश द्वार घटियाला में था जो वर्तमान मे ओसिया से २८ मील दक्षिण मे स्थित है। —भण्डारकर, ए. एस. आई. ए. आर १९०८-०९ पृ० १००

२. (i) ओझा गौ. ही.—हिस्ट्री आफ दि जोधपुर स्टेट पृ० १८-२९

(ii) धुन्दली मल्ल नामक साधु के शिष्यो को ग्रामीणों द्वारा भिक्षा न मिलने पर साधु ने कुपित होकर संपूर्ण प्राचीन "मेलपुर पट्टन" को पाताल मे धंसा दिया। अनेक युगों पश्चात् उप्पल दे नामक परमार युवराज द्वारा इस स्थल को पुर्ननिवसित किया गया। इसी परमार "उप्पल दे" ने अपने शत्रु द्वारा राज्य से निर्वासित किए जाने पर प्रहियार (प्रतिहार) वंश के राजा द्वारा इस क्षेत्र मे शरण पायी। सम्पूर्ण मारवाड में यह प्रतिहार राजा अत्यधिक शक्ति सम्पन्न था। अतः उसने परमार नरेश को भेलपुर पट्टन के ध्वंसाव शेषों में शरण देकर उसकी रक्षा की। यद्यपि उत्पल दे ने इस नव निवसित नगरी को नैवनेरी नगरी की संज्ञा से विभूषित की परन्तु ग्राम ओसिया भी कहलाया क्योंकि राजकुमार ने वहां "ओस्टा" लिया था।

—भण्डारकर रिपोर्ट, १९०८-०९, पृ० १००-१०१

३. वही, पृ० १००-१०१

४. खजुराहों के जैन मन्दिर भी नीची जगती पर ही निर्मित हैं जबकि अन्य सम्प्रदायों के मन्दिर अधिक ऊंची जगती पर स्थापित हैं। शास्त्रों में स्पष्ट निर्देशित है—यावत प्रसाद जगती तादृशा अप. पृ०

५. उल्लेख्य है कि स्थल पर मात्र यह एवं सच्चिय माता का मन्दिर ही गान्धार शैली का अवशिष्ट उदाहरण है। ध्यातव्य है कि खजुराहो स्थित पार्श्व नाथ मन्दिर भी गान्धार शैली में निर्मित है।

६. प्रासाद मण्डन, अपराजित पृच्छा

७. प्रासाद मण्डन अध्याय ३ श्लोक १२-१३

८. पार्श्वनाथ मन्दिर मे मूर्ति

९. अनेक विद्वानों ने भी यह तथ्य स्पष्ट किया है कि यह शिखर मूल शिखर नहीं है—ढाकी वही पृ० ३१५, डी० एच० हांडा—पृ० ४३ ओसिया-हिस्ट्री, आर्केलाजी, आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर

१०. उल्लेख्य है कि मयूर इस क्षेत्र में बहुतायत से मिलते है। मेरे प्रयास के समय अध्ययन करते समय पार्श्व के कगूरो पर आकर प्राय वे बैठ जाते थे अथवा कुछ भोज्य पदार्थ के आकर्षण में कू-कू की ध्वनि के साथ आ जाया करते थे।

११. उल्लेख है कि भण्डाकर महोदय ने इस अभिलेख के आधार पर लिखा है कि यह महावीर मन्दिर प्रतिहार नरेश वत्सराज के समय मे बना था तथा इस मंदिर के मण्डप का पुर्ननिर्माण जिन्दक नामक व्यापारी के द्वारा वि० सं० १०१३ अर्थात् ९५६ ई० में हुआ (भण्डारकर पृ० १०८) ढाकी महोदय ने भी इसी तथ्य को स्वीकार किया है (पृ० ३२३)। परन्तु प्रो० हाडा के अनुसार प्रशस्ति के अध्ययन के ज्ञात होता है कि वत्सराज प्रतिहार के समय ओसिया के सूर्य-मंदिर का निर्माण हुआ था जिसके मण्डप का पुर्ननिर्माण जिन्दक के पिता पूरा हुआ।

—डॉ० शशिकलाश्रीवास्तव
६२, चित्रगुप्त लेन
सुभाष नगर, गोरखपुर-२७३००१

प्राण, मन और इन्द्रियों में एकत्व साधने वाला योग : स्वर योग

☐ परमेश्वर सोलंकी

मैत्रायण्युपनिषद् (६ २५) का श्लोक प्रसिद्ध है कि—

एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च ।
सर्वभाव परित्यागो योग इत्यभिधीयते ।।

अर्थात् प्राण, मन और इन्द्रियो का एकत्व और सर्वभाव-परित्याग ही योग है और यह संसार अग्नीषोमात्मक है । अग्नि और सोम मे समत्व वायु करती है, इसीलिये कुछ लोग कहते हैं कि—

वायुरेव महाभूत इति केचित्प्रचक्षते ।
आयुरेव स भूतानामिति मन्यामहे वयम् ।।

वायु महाभूत है और हम उसे सब प्राणियों की आयु कह सकते हैं। भगवान् चरक (२८.३) भी कहते हैं

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुवाता शरीरिणाम् ।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्त्तितः ।।

अर्थात् वायु ही आयु है, वही बल है और वही मनुष्यों का जीवन है। यह समस्त विश्व भी वायु का ही गोला है जिसमें स्वयं प्रभु समाया हुआ है ।

ब्रह्मज्ञान-निर्वाणतंत्र मे भी कहा गया है कि पृथ्वी पानी में समा जाती है, पानी सूर्य द्वारा सोख लिया जाता है और सूर्य वायु में विलीन हो जाता है और फिर वायु अनन्त आकाश में लय हो जाती है । ऐतरेय आरण्यक (२.१.६) में अनन्त आकाश को 'प्राण' से भरा हुआ कहा गया है और यह बताया गया है कि एक कोशी जीव-पिपीलिका से बृहत् आकारीय प्राणी— सभी इस एक प्राण तत्त्व से ही उद्भुत और अनुप्राणित हैं ।

'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' के अनुसार हर प्राणी के शरीर में भी प्राण समाया हुआ है—**सर्बं हि+इवं प्राणेनावृतम्** । इसीलिये ऋग्वेद (१०.१८६.१) की एक ऋचा मे जीवन को सफल बनाने के लिए वायु से भेषज रूप में सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर हृदय को सुख और शांति से भर देने की प्रार्थना की गई है—

वात आवतु भेषजं, शंभुमयोभुनोहृदे ।
प्रण आपूंषि तारिषत् ।।

'शिव-संहिता' में मानव-देह को ब्रह्माण्ड की संज्ञा दी गई है जिसके मेरू शृंग पर अधोमुखी पीयूषचन्द्र की आठ कलाओं से निरन्तर सुधा बरसती रहती है। यह अमृत दो अतिसूक्ष्म मार्गों से बहता है। इड़ा मार्ग से शरीर की पुष्टि के लिये मंदाकिनी जल बहता है जो शरीर के वाम भाग में ऊपर से नीचे बहता है और पिंगला मार्ग से दूध की तरह श्वेत आभा वाली दूसरी तरग दाहिनी ओर नीचे से ऊपर जाती है। चन्द्रमा मेरूशृंग के मध्य में शरीर पुष्टयर्थ गमनागमन करता है और सूर्य मेरू मूल मे स्थित होकर अपनी १२ कलाओ से दक्षिण पथ को आलोकित करता रहता है। वह वायु के साथ समस्त शरीर मे भ्रमण भी करता है और जहां कहीं भी मंदाकिनी जल और धातु आदि अवशिष्ट देखता है उसे सोख लेता है। इस प्रकार शरीर का यह व्यापार अहर्निश चलता रहता है—

त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः।
मेरू सवेष्टय् सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्त्तते॥

अर्थात् तीनो लोको मे जितने भी प्राणी हैं उन सबका समस्त व्यवहार उनके मेरूदण्ड के सवेष्टन से इसी प्रकार होता है। मेरूदण्ड-संवेष्टन को स्पष्ट करते हुए 'शिव सहिता' मे कहा गया है कि इड़ा नामक नाडी शरीर के वामभाग में है। वह सुषुम्ना से लिपट कर आज्ञाचक्र से दक्षिण नासापुट तक गई है जबकि पिंगला नाम्नी नाड़ी दक्षिण भाग मे रहते हुए मध्य नाड़ी से लिपट कर बायें नासापुट में पहुंची है। इन दोनो इड़ा और पिंगला नाड़ियों के मध्य में सुषुम्ना है जो छह स्थानों पर छह शक्तिशाली पद्मो से युक्त है।

ये तीनो नाड़ियां मेरुदण्ड के समाश्रय से परस्पर गूंथी हुई एक दूसरे में ओतप्रोत हैं और 'सोम सूर्याग्नि' रूप मे ही समस्त शरीर में फैली हुई हैं। इसी नाड़ी-वितान को भोगवहा कहा गया है—

एता भोगवहा नाड्यो वायु संचार दक्षकाः।
ओतप्रोताः सुसव्याप्य तिष्ठन्त्यस्मिन्कलेवरे॥

क्योंकि इन तीनों नाड़ियों मे ही अहंकार, वासना और पूर्व कर्मों से लिप्त होकर प्राण वायु समाया रहता है—

प्राणो वसति तत्रैव वासनाभिरलंकृतः।
अनादि कर्म संश्लिष्टः प्राप्याहंकार संयुतः॥

इस प्रकार जब तक प्राणवायु आत्म तत्त्व से संयुक्त रहता है, यह वायु-संचरण अविराम गति से स्वयमेव होता रहता है। बृहद् आरण्यकोपनिषद् (१.३.१३) कहता है कि जब तक यह वायु-संचरण शरीर के भीतर रहता है उसे 'प्राण' कहते हैं और जब शरीर की मृत्यु हो जाती है तो यही प्राण ब्रह्माण्ड में विलीन होकर 'वायु' कहा जाता है—

अथ ह प्राणमत्यवहत्।
यदा मृत्युमत्युच्यत स वायुरभवत्॥

जिस प्रकार परमात्म से अविद्या प्राप्त होती है और अविद्या में ब्रह्म तत्त्व से ब्रह्मा प्रकट होता है। फिर आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी क्रमशः आकाश से

वायु; वायु, आकाश से अग्नि, आकाश, वायु, अग्नि से जल और आकाश, वायु, अग्नि, जल से पृथ्वी का निर्माण होता है जो पुन: एक गुण, द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण और पंच-गुण होकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध से स्थूलाकार ग्रहण करते हैं। ठीक उसी क्रम: से कान शब्द ग्रहण करते हैं, त्वचा स्पर्श, रसना रस, घ्राण गंध और चक्षु रूप को ग्रहण करके शरीर को त्रिलोकी का प्रतिरूप बनाते हैं।

त्रिलोकी में पंच तत्त्वों के साथ **असत् सत्** नाम के दो तत्त्व हैं जो **ब्रह्म** तत्त्व से नियन्त्रित हैं। देह में प्राणापान और नाद बिंदु जीवात्मा से संचालित हैं और परमात्म-संयोग से नियंत्रित हैं, इसीलिये बाह्य प्रकृति में होने वाली उथल पुथल शरीर में दुर्घटना का रूप नहीं ले पाती। जब तक जीव, परमात्म से संयुक्त रहता है अथवा जब तक कुण्डलिनी जागृत रहती है और **चित्रा** नाम की सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाडी में तरग रहता है और वह **ब्रह्मरंध्र** को हृदय से संयुक्त किए रखती है तभी तक सब कुछ ठीक ठाक रहता है। जब कभी भी यह नियंत्रण अथवा संबंध-विच्छेद होता है। अहंकार, पूर्वकर्म अथवा वासनाएं उसे वियुक्त कर देती हैं तो शरीर की स्वाभाविक प्रक्रिया बदल जाती है और वह भी बाह्य प्रकृति की भांति दुर्घटनाओ का शिकार हो जाता है। ऐसे समय में तात्कालिक यौगिक क्रियाएं उसे सुधार कर पुन. व्यवस्थित कर सकती हैं और **योग सिद्ध शरीर** में ऐसा सुधार स्वत: भी प्रवृत्त हो सकता है, अन्यथा दोष बढ़कर बड़ी दुर्घटनाए होने लगती हैं और अन्ततोगत्वा प्राण शरीर को छोड देता है जिससे शरीर मृत होकर शनै: शनै: बाह्य पंच तत्त्वों में विलीन हो जाता है। सर्वप्रथम अन्नमय कोष समाप्त होते हैं फिर मनोमय कोष और अन्त में प्राणमय कोष। एक अनुमान के अनुसार शरीर स्वत ही अधिकतम तीन साल मे बाह्य पंचतत्त्वों मे विलीन हो जाता है।

दूसरे शब्दों में शरीरस्थ वायु **प्राण अपान** भेद से दो प्रकार की है। मूलत: पाच सूक्ष्म और पांच स्थूल भेद से वह दस प्रकार की है। सूक्ष्म भेदों में **कृकल**—क्षुधा लाती है, **नाग**—चेतना रखती है, **कूर्म**—निद्रा लाती है, **धनंजय**—से शब्दोच्चारण होता है और **देवदत्त** से जंभाई और अगड़ाई आती है। स्थूल भेदों मे **प्राण** से श्वास-प्रश्वास चलता है, **अपान**—से मलमूत्रादि होता है, **समान** से नाभिमण्डल का व्यापार चलता है, **उदान** से कण्ठ प्रदेश का क्रिया कलाप होता है और **व्यान** से शरीर में उत्साह-अनुत्साह जन्मता है। '**शिवयोगशास्त्र**' के अनुसार **प्राणवायु** मुख, नाक, हृदय, नाभि और कुण्डलिनी को केन्द्र बनाकर चारों अंगुष्ठों में चलायमान रहती है। **अपान-वायु** गुदा, लिंग, जानु, उदर, पेडू, कटि और नाभि में, **व्यानवायु** कण्ठ, नाक, मुख, कपोल और मणिवन्धों मे, **उदान वायु** शरीर की सर्व संधियों में और हाथ पैरों में तथा **समान वायु** उदराग्नि कलाओं के साथ सर्वांग में रहती है। 'गोरक्षपद्धति' के अनुसार धनंजयवायु मृत्यु के बाद भी चार घड़ी तक शरीर में सक्रिय रहती है जबकि 'घेरण्ड संहिता' के मत में वह शरीर को संपूर्ण विनाश तक नहीं छोड़ती—'**न जहाति मृते क्वापि सर्व व्यापी धनञ्जयः।**'

शरीर में वायु का यह ओतप्रोत संचरण स्वत: ही होता रहता है—ऐसा भासता

है परन्तु वास्तव में यह **श्वास प्रश्वास रूपी वायु** जीवात्मा के नियंत्रण में रहता है और जीवात्मा उसे अपने अहंकार, पूर्वकर्म और वासना से परवश होकर चलायमान रखता है। जीवात्मा और श्वास प्रश्वास के मध्य **नादबिन्दु** नामक एक अपर तत्त्व है जिसे साध लेने पर परमात्म तत्त्व से वियोग नहीं होता और प्राणापान, नादबिन्दु, जीवात्मा और परमात्मा संयुक्त होकर घट **शुद्ध** बना रहता है। **यह नादबिन्दु ही स्वर-योग है।**

स्वरोदय

स्त्री गर्भाशय में डिम्ब के साथ वीर्य-संयोग से जो विस्फोट होकर **कलल** बनता है वह जीव प्रकृति सयोग कहा जाता है। डिम्ब अथवा अण्ड में बिंदु प्रवेश से जो शुरुआत होती है वह नाद और प्राण अपान से हृदयस्थ परमात्म से सयुक्तीकरण द्वारा पूर्ण होती है। जब तक देह मे देही वर्तमान रहता है तब तक यह संयोग बना रहता है और देह मे प्राण, माला में सूत्र की तरह समाया रहता है। गर्भावस्था मे यह सूत्र मातृ-हृदय से जुडा होने से निर्द्वन्द्व और निश्चित होता है परन्तु जन्म-समय मातृ-हृदय से विमुक्ति के साथ ही सूत्र-खंडन से यकायक सबकुछ चौपट हो जाता है और नवजात शिशु तब तक मृत ही माना जाता है जब तक वह खंडित सूत्र नासिका मार्ग से बाह्य-जगत् से नही जुड जाता और नाद बिन्दु से वाणी नही खुल जाती।

इस अपर संयोग से पहले और मातृ हृदय से विमुक्ति के बीच भी जीव शिशु शरीर में वर्तमान रहता है और मूलाधार में अन्तर्निहित उस अदृश्य वायु से सबद्ध होता है जो अनीन्द्रिय होने से अदृश्य और अस्पर्श्य है। कतिपय मुक्तात्माओ की स्थिति इस साधारण व्यापार से भिन्न होती है और वे गर्भावस्था में ही मातृ-हृदय से पृथक् भी अपना जीवनवृत्त बना लेते है। ऐसे लोकोत्तर चरित भारत मे अनेकों हुए हैं। ऋषि मुनियो मे से सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं। भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध और शंकराचार्य प्रभृति लोग भी ऐसे ही संस्कार लेकर आये थे परन्तु उन्हें वासनाओ मे फंसाया गया। महात्मा कबीर भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। बीकानेर की धरती पर भी एक ऐसा चरित्र हुआ है जो जब तब वायु मे विलीन होता व प्रकट होता रहता था और २४ वर्ष की स्वल्प वय मे ही वह देह मुक्त भी हो गया था। वह चरित्र गुरू जसनाथ था।

साधारण जन गर्भ से मुक्ति के बाद दाई के सद्प्रयत्नो से प्राण-संचालन पाते हैं और ज्यो-ज्यो प्राणो की गति बढ़ती है, नाडियो में वायु-संचरण स्वाभाविक बनता है, जीव अपने पूर्व कर्म, अहंकार और ईषणाओं से आक्रात होकर संपूर्ण अतीत को भूल जाता है। यह भूल शनैःशनैः बढ़ती है और शरीर के इस स्वाभाविक धर्म श्वास-प्रश्वास को भी प्रभावित करती है जिससे वह रोग, भोग तथा जरा, मृत्यु क्रम से दुःख सुख भोगता है। इस दौरान जब किसी सद्गुरू से सम्पर्क हो जाता है अथवा पूर्वजन्म के सद्कर्मों के फल से विस्मृति का विनाश होने लगता है तो **'स्वरोदय'** हो जाता है और रोग, शोक दूर होकर--प्राणापान, नादबिंदु, जीवात्मा, परमात्मा का अनुक्रम सधकर घट शुद्ध हो जाता है और शुद्ध घट में स्वयं राजते, स्वयं रमते

वा इति स्वरः । तस्य स्वरस्य उदयः—**स्वरोदय** हो जाता है ।

स्वरोदय हो जाने पर उत्तमोत्तम और गुह्यातिगुह्य विद्या भी परिज्ञात हो जाती है । स्वरोदय से शत्रुनाश, लक्ष्मी प्राप्ति, मित्रसमागम, इच्छित कीर्त्ति, विवाह, राज-दर्शन, भूपति वंश, देवसिद्धि आदि होने लगता है । जैसे दीपक जलने पर भवन प्रकाशित हो जाता है वैसे ही स्वरोदय से सारा शरीर प्रकाशमान रहता है और शरीर पर भद्रा, व्यतिपात और वैधृति दोष नहीं लगते । स्वयमेव जीवन में बुरे योग न होकर इच्छानुसार जय-पराजय, शुभाशुभ, सुख दुःख और सिद्धि असिद्धि होने लगती है ।

शरीर में स्वरोदय होना अतीव महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उससे ब्रह्माण्ड और घट में तादात्म्य हो जाता है । जैसे सूर्य स्थिर रहता है किन्तु उत्तरायण-दक्षिणायण होता है वैसे ही शरीर में स्वर स्थिर रहते हुए भी नासापुट में उत्तरायण-दक्षिणायण होता है । वह चन्द्रोदयास्त के आधार पर तिथि अनुसार बदलता है । तदनुसार प्रत्येक शुक्ल पक्ष की १, २, ३, ७, ८, ९, १३, १४, १५ और कृष्ण पक्ष की ४, ५, ६, १०, ११, १२ को सूर्योदय पर चन्द्र स्वर तथा कृष्ण पक्ष की १, २, ३, ७, ८, ९, १३, १४, ३० और शुक्ल पक्ष की ४, ५,।६, १०, ११, १२ को दाहिना स्वर सूर्योदय पर शुरू होता है । यह एक प्राकृतिक संस्थिति है और इसके बने रहने पर शरीर का व्यापार सुनियंत्रित रहता है ।

स्वर रहस्य

शरीर में नाड़ियों का एक बड़ा जाल बिछा हुआ है । ७२ हजार नाड़ियों का यह सुविस्तीर्ण वितान प्राणापान के संचरण से प्रतिपल शरीर मे अनुकूल-प्रतिकूल संरचना करता रहता है । यह नाडी वितान **पायु** से दो अगुल ऊपर और **उपस्थ** से दो अंगुल नीचे चतुरंगुल विस्तार में एक कन्द जैसे स्थान से उद्भुत है जिसमें से मोटे रूप में २४ नाडियां निकलती दीख पडती हैं जो भेद-प्रभेद से ७२ हजार हो जाती हैं । शिव संहिता में इनकी संख्या साढ़े तीन लाख बताई गई है ।

> सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम् ।
> प्रधानभूता नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दशः ।।

मूलाधार से दस नीचे, दस ऊपर और दो, दो नाडी दायें बायें से निकलती हैं जिनमे **श्रेष्ठ कर्त्तारौ प्राणापानौ**—कहकर मोटे रूप में प्राण और अपान को गिनते हैं । यह प्राण नाभि-मण्डल से ऊपर और अपान नाभि-मंडल से नीचे एक तरन्नुम अथवा लय मे बहते रहते हैं । इस लय को जानकर तदनुकूल आचरण करने से सारे कष्ट मिट जाते हैं । ताण्ड्य ब्राह्मण (१०.४.४) में कहा गया है कि उसे कौन बिन जगा कह सकता है जो दो प्राणों से सदैव जागृत रहता है—

'तदाहुः कोऽस्वप्तुमर्हति, यद्वाव प्राणौ जागार, तदेव जागरितमिति'

इसी बात को किसी कवि ने बहुत सुन्दर रूप में कह दिया है—

> हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः ।
> अजपा नाम गायत्री जीवो जपति सर्वदा ।।

अर्थात् सोऽहम् का जाप करते हुए जीव निरन्तर गायत्री जपता है । सोऽहम् ही

ओ३म् अथवा प्रणव है। इसे एक अन्य श्लोक में इस प्रकार कहा गया है—

सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत्।
सन्धिं च पूर्वरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्॥

काण्व संहिता (४०.१६) में इसीलिए कहा गया है—**योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि**। अथवा यों कहें—**तद्योऽहंसोऽसौ योऽसौ सोऽहम्**।

अकारं पुरुषं विश्वमुकारे प्रविलोपयेत्।
उकारं तैजसं सूक्ष्मं मकारे प्रविलोपयेत्।
मकारं कारणं प्राज्ञं चिदात्मनि विलोपयेत्॥

इस प्रकार **ओमित्यात्मानं युञ्जीत** अथवा **ओमित्येवं ध्यायथात्मानम्**। मुण्डकोपनिषद् कहता है—

प्रणवो धनु. शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

और राजर्षि मनु की भी व्यवस्था है—

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथामला·।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

इस नाड़ी शुद्धि और योगावस्था प्राप्ति के लिये अनेकों सुगम और दुर्गम उपाय कहे गये हैं। कठिन साधना पूर्ण पद्धति बताई गई है। अनेको अभ्यास और साधनों द्वारा सतत सचेष्ट रहकर परिचय और निष्पत्ति अवस्थाएं पाने का विधान है। हठयोग से राजयोग तक अनेकों तौर-तरीके अपनाकर अनेकों प्रकार की कठिन साधनाएं करनी पड़ती हैं। सारी प्रक्रिया परम गुप्त कही जाती हैं। उसे बयान करना संभव नहीं। साधु संत और भक्तजन भी इसे कहने सुनने में असमर्थ हैं—**जो जाने सो ना कहे और कहे जो जाने नाहि**। फिर भी अनहद नाद रूपी इस स्वर रहस्य को जिसने जैसा जाना है उसने अपनी-अपनी प्रतीति को प्रकट किया है। महात्मा सुन्दरदासजी का निम्नपद दृष्टव्य है—

प्रथम भंवर गुंजार शंख ध्वनि दुतिय कहिजै।
तृतीय बजई मृदंग चतुरथे ताल सुनिजै।
पंचम घंटानाद षष्ठ वीणा धुन होइ।
सप्तम बजई भेरी अष्टमे दुंदहि दोइ।
नवमे गरज समुद्र की दशमे मेघ घोषइ गुनै।
कहै सुन्दर अनहद नाद को दश प्रकार योगी सुनै॥

हंसोपनिषद् (१६-२०) में इसे यों कहा गया है—

प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम्।
तृतीये भेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः।
पंचमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृत निवेषणम्।
सप्तमे गूढविज्ञानं परा वाचा तथाष्टमे।
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथाऽमलम्।
दशमं च परं ब्रह्म भवेद् ब्रह्मात्म संनिधौ॥

अथर्ववेद (११.४.१) के अनुसार सब कुछ इस प्राण के वश में है—**'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे'**। वहां (११ ४.८) प्राण अपान—दोनों को नमस्कार किया गया गया है --**'नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते'**। यजुर्वेद (३४ ३५) प्राणों को सप्त ऋषि कहता है जिनके बारे मे बृहदारण्यक (२.२-४) में कहा गया है—**प्राणा वा ऋषयः। इमौ एव गोतम भरद्वाजौ। अयमेव गोतमः। अयं भरद्वाजः। इमौ एव विश्वामित्र जमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रः। अयं जमदग्नि। इमौ एव वसिष्ठ कश्यपौ। अयमेव वसिष्ठः। अयं कश्यपः। वागेवात्रिः॥** ये सप्त ऋषि बिना प्रमाद के जागृत रहते हैं और शरीर को धारण किए हुए हैं।

इनकी संचेष्टाओ को प्रवह, आवह, उद्वह, संवह, विवह, परिवह और परावह क्रम से सात प्रकार का कहा गया है। प्राण जो नाभि-मण्डल के ऊपर प्रवाहित होता है, जब नाभि मण्डल को भेद लेता है तो अपान हो जाता है और मूलाधार में अजगति पाकर पुनः उदित होता है। इस प्रकार समस्त क्रियाकलाप मूलाधार मे स्थित त्रिवलयाकृति से होता है जिसकी अर्द्धमात्रा स्थिर होती है शेष चचल। अपनी चंचलता के कारण वह बारंबार स्थानच्युत होती है और उसके स्थानच्युत होने से प्राण संचालित होते हैं। यदि मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपुर मे स्थिरार्द्ध के साथ आज्ञाचक्र से विशुद्ध और अनाहत को भी स्थिर कर लिया जाए तो समस्त चंचलता समाप्त होकर त्रिवलयाकृति ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर स्थिर हो जाती है और कुण्डलिनी योग सध जाता है।

साराश यह है कि देह रूपी नगरी मे वायु राजा की तरह रहता है जो अहर्निश उसकी देखभाल को बाहर भीतर गमनागमन करता रहता है। नासिका के दोनो छिद्रो में कभी पहले से कभी दूसरे से और कभी दोनों से। यह श्वास-प्रश्वास एक स्वाभाविक क्रम से चलता है और इसमें क्रमशः पंच तत्त्वों का उदयास्त होता रहता है जो शरीर के सांसारिक व्यापार को एक निश्चित स्वरूप प्रदान करता है। इन तत्त्वों का उदयास्त जानना, श्वास प्रश्वास को उसके स्वाभाविक अनुक्रम मे रखना और शरीर-व्यापार में व्यतिक्रम न होने देना ही **स्वर योग** का मूल ध्येय है।

स्वरयोग को साधकर सिद्धि पाना और प्रमादवश जब तब की भूल से शरीर में दोष व्यापने पर उसका शोधन करना, रोग आदि से मुक्ति और अन्य प्राणी के दुःख निवारण का प्रयास आदि इसके दूसरे कार्य हैं। एतदर्थ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का एक अनुक्रम है। दूसरा क्रम कर्मयोग करते हुए कुण्डलिनी जागरण का प्रयास है और तीसरा भूत् शुद्धि द्वारा मंत्र साधन कर लेने का एक उपाय है। जप-तप द्वारा स्वार्थसिद्धि का भी एक प्रकार है। इसी प्रकार भक्तियोग से राजयोग तक अनेकों मार्ग हैं किंतु—

हठं बिना राजयोगो राजयोगं बिना हठः।
तस्मात्प्रवर्तते योगी हठे सद्गुरूमार्गतः॥

बिना हठयोग के राजयोग और राजयोग बिना हठयोग व्यर्थ है और जो बिना किसी भी प्रकार का योग साधे यों ही जीवन बीता देता है वह व्यर्थ जीता है क्योंकि उसका जीवन तो मात्र इन्द्रियों की वासनापूर्ति का वायस बनता है—

स्थिते देहे जीवति न योगं भ्रियते भृशम् ।
इन्द्रियार्थोपभोगेषु स जीवति न संशयः ।।

—परमेश्वर सोलंकी
संपादक, तुलसी प्रज्ञा,
जै.वि.भा. संस्थान, लाडनूं

जैन आगमों में वनस्पति वर्णन

● वैद्य सोहनलाल दाधीच

निघण्टुना विना वैद्यो विद्वान् व्याकरणं विना,
अनभ्यासेन धानुष्क स्त्रयो ह्रासस्य कारणम् ।

अर्थात् द्रव्य गुण ज्ञान के बिना वैद्य, व्याकरण ज्ञान के बिना विद्वान् और बिना अभ्यास के धनुष चालक ये तीनों समाज में परिहास के कारण बनते हैं।

अतीत में मानव-जीवन के साथ-साथ औषधि-विज्ञान व वनस्पति-विज्ञान का सांगोपांग विकास हुआ था। उस समय हमारे देश मे चिकित्सा प्रणाली के रूप में एक मात्र आयुर्वेद का ही प्रवर्तन था। आयुर्वेद विज्ञान के आदि प्रवर्तक सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा, उनसे दक्ष प्रजापति और उनसे अश्विनीकुमार और उसके बाद इन्द्र को यह ज्ञान प्राप्त हुआ था। ये सब चिकित्सा विज्ञान मे सिद्ध हस्त चिकित्सक हुए हैं। इसी परम्परा में काय चिकित्सा के प्रवर्तक आत्रेय और शल्य चिकित्सा के आचार्य धन्वतरि थे। काय चिकित्सा का प्रधान ग्रंथ चरक और शल्य चिकित्सा का सुश्रुत ये दोनों संहिताएं आयुर्वेद की बहुमूल्य धरोहर हैं। चरक में काय चिकित्सा और सुश्रुत में शल्य चिकित्सा का विवेचन है।

काय चिकित्सा प्रधान चरक ने वनस्पतियों के ४५ विभाग बनाकर क्वाथ चूर्ण वटी अर्क अवलेह घृत तैल रसायन आदि का अनेक रूपों में वैज्ञानिक विधि से भैषज्य निर्माण किया था। शल्य (सर्जरी) प्रधान सुश्रुत मे लगभग ७०० वनस्पतियों का निरूपण किया गया है। भारत में उत्पन्न होने वाली ये वनस्पतियां हम भारतीयों के लिए—यस्यदेशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्—सर्वथा अनुकूल व लाभप्रद होती हैं।

अन्यान्य ज्ञान विज्ञानों की तरह वनस्पति-विज्ञान भी अन्वेषण अभाव में शिथिल होता चला गया। अब तो स्थिति यहां तक आ गई है कि वनस्पतियों की पहिचान भी चिकित्सकों को बहुत कम रह गई है। एक आयुर्वेद ग्रंथकार ने तो यह भी लिख दिया है कि—अस्माकं मूर्ख वैद्यानां पंसारी द्रोणपर्वतः। आज तो यह स्थिति है कि वैद्य चिकित्सा ग्रंथों के आधार पर नुस्खा लिखकर देता है और पंसारी (दवा विक्रेता) उन घटक द्रव्यों के अभाव में कोई अन्य द्रव्य मिलाकर देता है तो भी वैद्य उसे अंगीकार कर लेता है। परिणामतः प्रयोगों का प्रभाव विपरीत पड़ता है जो विज्ञान की प्रगति में बाधक बन रहा है।

विभिन्न प्रदेशों में अनेकों वनस्पतियां इतनी चमत्कारिक व प्रभावपूर्ण हैं कि

इनका विवेचन द्रव्य गुणों के विशाल ग्रन्थों में भी उपलब्ध नहीं है। किंतु उस क्षेत्र के आदिवासी लोग जिन्हें देहाती व जंगली भी कह दिया जाता है तत्तत् क्षेत्रीय भिन्न-भिन्न नामों से जानते हैं और उपयोग करते हैं। इस प्रकार वनस्पतियां असंख्य हैं। अपार भण्डार है और यह वनसम्पदा सुरक्षा और ज्ञान के अभाव में विनाश के कगार पर है।

एक बार देश में प्लेग महामारी के रूप मे आई तब लाखो मानवों की मृत्यु हुई थी। उस समय आयुर्वेद, यूनानी, व एलोपैथी आदि सभी प्रचलित चिकित्सा प्रणालियां असफल हो रही थी। उस समय एक जैन साधु ने अश्वगंधा जड़ को गांठ पर लगाने का अनुभव बताया और उस समय यह औषधि रामवाण सिद्ध हुई थी।

'जंगलनी जड़ी-बूंटी' ग्रन्थ के लेखक ने उग्ररक्तपित्त के लिए एक संथाल से प्राप्त वरखो नाम की वनस्पजि से रक्त बन्द करने का अद्भुत प्रयोग बताया था।

इसी प्रकार मेरे अनुभव में भी लगभग ४० वर्ष पहले एक गरीब रोगी के घाव में कीड़े पड़ गये थे। जब वह मेरे पास आया तो मैं किंकर्तव्यविमूढ हो रहा था कि पास मे बैठे एक ग्रामीण ने अरणी (अग्निमंथ) की लुगदी बांधने का परामर्श दिया और आश्चर्य हुआ कि उस घाव के अधिकांश कीड़े एक ही पट्टे से बाहर आ गए।

हमारे ऋषि मुनियों को प्रभावशाली वनस्पतियों का सूक्ष्मतम पूर्ण ज्ञान था। किंतु समय के भीषण आघातों से, समय परिवर्तन से हम इनकी पहिचान तक भूल गए।

जैन वाङ्मय में विशेषत: जैनागमों में वनस्पतियों का बहुत विस्तार से वर्णन आता है। राजस्थान के सुप्रसिद्ध जिले नागौर के कस्बे लाडनूं मे जैन विश्व भारती नाम का एक विशाल संस्थान है। जहां गणाधिपति महासंत तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ जैसे उच्च कोटि के जैन संतों द्वारा अहर्निश जैन वाङ्मय में अनुसधान का कार्यक्रम चल रहा है। उन्ही के एक विद्वान् शिष्य मुनिश्री श्रीचदजी ने जैन आगम वनस्पति कोश का निर्माण किया है। इन्होंने द्रव्य गुण सम्बन्धी —भाव प्रकाश निघंटु, शालिग्राम निघण्टु, कैयदेव निघण्टु, राज निघण्टु सोढल व मदन पाल निघण्टु आदि ग्रन्थों का मनन व निदिध्यासन कर इस शोधपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन किया है।

इनका यह बहुमूल्य कार्य स्तुत्य व सराहनीय है। लेखक के अथक परिश्रम ने जनोपयोगी सुन्दर कार्य किया है। प्राकृत भाषा के नामों को आयुर्वेदीय नामावली से संतुलित कर वानस्पतिक क्षेत्र मे अद्भुत योगदान दिया है। जो जैनागम के शोध-कर्ताओं के इतिहास मे स्वर्णाक्षरों मे उल्लेखनीय है।

लेखक ने जिस उत्साह और लगन से वनस्पतियों के पर्यायवाची नामों की तथा चित्रों की खोज की है वह अत्यन्त श्लाघनीय है। उपयोगिता की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ की सफलता असदिग्ध है। प्रकाशन भी अतिसुन्दर व आकर्षक हुआ है। अतएव ग्रन्थ संग्रहणीय हो गया है।

प्रस्तुत प्रकाशन में अभी करीब ४५० वनस्पतियों पर प्रकाश डाला गया है जो अभी अपूर्ण है। बहुसंख्यक वनस्पतियां अवशिष्ट हैं। विद्वान् लेखक और वनसंपदा को

उजागर करेंगे इसी आशा और विश्वास के साथ सुरुचिपूर्ण प्रकाशन के लिए पुनः पुनः वर्धापन।

समीक्षा

लगभग छह दशक पूर्व स्व. धर्मानन्द कोसम्बी ने "पुरातत्व" नामक त्रैमासिक पत्रिका में एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने बुद्धकाल में सभी प्रकार के श्रमणों में मांसाहार के प्रचलन की बात कही थी। उसके बाद मराठी में लिखे गये उनके ग्रंथ — "भगवान बुद्ध" के एक अध्याय में (उत्तरार्द्ध भाग मे ११ वां अध्याय) मांसाहार की बात को विशेष विस्तार से लिखा गया। "भवितव्य" नागपुर एवं "जन्मभूमि" (गुजराती दैनिक) आदि समाचार पत्रों में इस पर टीका-टिप्पणी हुई और जैन जगत् में काफी तनाव रहा। सन् १९४१ से १९४५ तक कलकत्ता से लेकर काठियावाड़ (सौराष्ट्र) तक अनेकों सभाएं हुईं और श्री कोसम्बी के विरुद्ध निंदा-प्रस्ताव पारित किए गए। यवतमाल (विदर्भ) में तो इस आरोप से निपटने के लिए एक संस्था की स्थापना भी की गई।

सन् १९५७ मे श्री कोसम्बी की पुस्तक पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म —हिन्दी में प्रकाशित हुई तो काका कालेलकर ने भी इस संबध में 'सच्चा समाज धर्म' शीर्षक से एक लघु लेख लिखा और कहा कि मांसाहार का उल्लेख जैन धार्मिक साहित्य में निर्विवाद रूप में पाया जाता है। उन्होंने पण्डित सुखलालजी के संदर्भ से यह भी लिखा दिया कि "महावीर स्वामी का अहिंसा-धर्म प्रचारक धर्म था, इसलिए उसमें समय-समय पर विभिन्न जातियों का समावेश हुआ है। जिस प्रकार अनेक सनातनी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य महावीर स्वामी का उपदेश सुनकर जैन हुए, उसी प्रकार कई क्रूर, वन्य और पिछड़ी हुई जमातों के लोग भी उपरत होकर जैन धर्म मे प्रविष्ट हुए थे। ऐसे लोग जैन धर्म को स्वीकर कर चुकने के बाद भी एक अरसे तक मांसाहार करते रहे हों, तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अतः यह साबित होने से कि पुराने समय में कुछ जैन लोग मांसाहार करते थे, यह अनुमान लगाना गलत होगा कि सभी जैनों के लिए मांसाहार विहित था।"

वस्तुतः जैनागम में पशु, पक्षी और जलचर जीवों के सदृश दिख पड़ने वाली वनस्पतियों के लिए तादृश नामकरण हुए हैं और कहीं-कही उनके साथ "मांस" शब्द का प्रयोग हुआ है। सूर्य प्रज्ञप्ति (१०, १२०) में कृत्तिका से भरणी तक २८ नक्षत्रों के भोजन का विधान है जिसमें अनेक शब्द मांस परक हैं जैसे रोहिणी नक्षत्र के लिए वृषभ मांस, मृग शिरा के लिये मृगमांस, अश्लेषा के लिए दीपिक मांस, पूर्व फाल्गुनी के लिए मेष मास, उत्तर फाल्गुनी के लिए नखी मांस, उत्तरा भाद्रपदा के लिए वराहमांस, रेवती के लिए जलचर मांस और अश्विनी नक्षत्र के लिए तितिरि मांस भोजन बताया गया है।

भगवती सूत्र में उल्लेख है कि गोशाल के द्वारा तेजोलब्धि का प्रयोग करने से भगवान महावीर के शरीर के दाह लग गई, तो उन्होंने अपने शिष्य सिंह नामक अणगार को कहा—तुम मेढियग्राम में रेवती गाथापति के घर जाओ। उसने मेरे लिये दो

"कपोत शरीर" उपस्कृत किये हैं उसको मत लाना, लेकिन वासी मार्जार कृत "कुक्कुट मांस" है, उसको ले आना। आचारांग चूलिका (१.१३३-३४) और दशवैकालिक (५.७३-७४) में "बहुअट्ठिय मंसं" प्रयोग है और उसे लेने का निषेध है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् प्रो० हर्मन जेकोबी ने सन् १८८४ में जब आचारांग का अंग्रेजी अनुवाद किया तो उक्त आचारांग संदर्भ से (बुक-२ लेक्चर-१ लेसन-१० में प्रघट्टक—पांच, छह) भिक्षा में मांस-मछली लेने का निषेध किया और मांस-मछली ग्रहण कर लेने पर उसे निमित्त स्थान पर छोड़ने के रूप में अनुदित किया।

इस प्रकार बौद्धों की तरह, जहां (महापरिनिर्वाण सूत्र और अंगुत्तर निकाय के पंचक निपात में) भगवान बुद्ध द्वारा "सूकरमद्दव" "सूकर मंसं" -सूअर मांस खाने का उल्लेख है, जैनों द्वारा भी "कुक्कुट मस" अथवा "बहुअट्ठिय मस" लाने का उल्लेख है और इस संबंध में अभी तक कोई सटीक प्रत्युत्तर नहीं दिया गया था। सप्रति मुनि श्रीचंद "कमल" ने **जैन आगम : वनस्पति कोश** का निर्माण कर जैनागमों के संदर्भित प्रसंगों का युक्तियुक्त और सांगोपांग स्पष्टीकरण कर दिया है। उन्होंने आचारांग और दशवैकालिक में आये "बहुअट्ठियमंसं" के समकक्ष प्रज्ञापनासूत्र (१.३५) के एगट्ठिया शब्द का संदर्भ सामने रखकर वहां वर्णित ३२ वनस्पतियों के नाम गिनाये हैं जो सभी गुठली वाली हैं। अर्थात् उक्त "बहुअट्ठिय" शब्द वनस्पति विशेष की बहुत सी गुठलिया अथवा बीजों का वाचक है न कि अस्थि अथवा हड्डी का। इसी प्रकार कपोत शरीर सकोय वनस्पति का नाम है जिसके फल कबूतर के अण्डो के समान होते हैं। धन्वन्तरि निघटु और कैयदेव निघटु के प्रमाण देकर मुनिश्री ने काकमाची (कपोत शरीर) की व्याख्या की है और चरक सहिता के प्रमाण से लिखा है उसे मधु के साथ मिलाकर खाने से वह तुरन्त मृत्यु का कारण बन जाती है। किंतु औषध के रूप में रक्त पित्त, क्षत, विष, कृमि आदि में लाभप्रद है। कुक्कुटमस चोपतिया शाक है जिसके क्षुप के प्रत्येक पत्र दण्ड पर चार-चार पते स्वस्तिक क्रम में निकलते रहते हैं। यह त्रिदोषघ्न और ज्वरनाशक है।

जैन विश्व भारती में पिछले लगभग पच्चीस वर्षों से जैनागमो पर शोध—खोज आदि का महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। आगम शब्द कोश, देशी शब्द कोश, एकार्थक कोश और निरूक्त कोश का संपादन-प्रकाशन होकर शोध की इस विधा में अब यह जैन आगम: वनस्पति कोश के मुद्रण से जहां आगमों के संदिग्ध पाठों को असंदिग्ध बनाने में सहायता मिलेगी वहां यह कोश आयुर्वेद तिब्बत, यूनानी और सिद्ध चिकित्सा पद्धतियों के लिए सर्वथा अज्ञात वनस्पतियो का परिचय उपलब्ध करेगा।

मांस परक वनस्पतियों का किंचित् वर्णन ऊपर किया जा चुका है, किन्तु जलचर मांस—नारियल फल का गूदा, पखी मंस—बड़े बेर का गूदा, तितिर मस—मेथी या केर का साग, मिग मंस—कस्तुरी के दाने, मेढ़क मंस—मेढ़ा सिंगी फल का गूदा, वराहमंस—वाराही कंद (रतालु) का गूदा और वसभ मस—लहसुन जैसा जमीकद जो हिमालय पर पैदा होते हैं—इन वनस्पतियों का गूदा या गिरी प्रयोक्तव्य है और इनसे पशु पक्षी अथवा किसी जानवर के मांस का कोई अभिप्राय नहीं है—यह

जानकारी बहुत लोगों के लिये अभिनव होगी। मुनिश्री ने २८ नक्षत्रों के भोजन की वनस्पतियों को खोजकर और उन्हें सार्वजनिक बनाकर परोपकार का बड़ा कार्य किया है जो नक्षत्र विशेष में कार्य सिद्धि के लिये नक्षत्र भोजन मे लाभान्वित होने का अवसर प्रदान करता है।

इसी प्रकार उनके द्वारा इस कोश में व्याख्यायित वनस्पतियों में एक बीज (गुठली) वाली ३२, बहुबीजवाली ३३, गुच्छ ५३, गुल्म २५, वल्ली ४८, एक शाख वाली लता १०, पर्वक २१ तृस २३, हरित ३०, वलय १७, धान्य २६, जलरुह २७, कुहण (भू फोड़) ११ साधारण शरीर (एक साथ प्राण अपान छोड़ने वाली) ६० और फुटकर ५ कुल ४२१ वनस्पतियों का रोचक वर्णन है। मुनिश्री चंद "कमल" ने इन वनौषधियों में से भी बहुत सी वनस्पतियों की पहचान बता दी है। किन्तु अभी इन सभी औषधियों के द्रव्य गुणों का विधिवत अध्ययन और मूल्यांकन होना शेष है। इस संबंध में वनस्पति वेत्ता और औषध निर्माताओ को आगे आना चाहिए और इस अमोल खजाने का सदुपयोग करना चाहिए।

आयुर्वेद जगत् की मान्यता है कि वनौषधियों की प्रत्यक्ष जानकारी गो पालन करने वाले, वनेचर, व्याध और तापस लोगों को होती है। प्रस्तुत कोश में वे सभी वनस्पतिया सग्रहित हुई हैं जो तापस-साधुजनों ने स्वयं अनुभूत और प्रयोग की हैं। निस्संदेह जैन आगमों से निर्व्यूहन की गई इन वनौषधियों की सख्या जैन साहित्य को टटोलने से और बढ़ेगी और मुनिश्री चद "कमल" द्वारा प्रस्तुत यह अध्ययन भी उत्त-रोत्तर लोक कल्याण के लिए समृद्ध होता रहेगा। 'जैन आगम: वनस्पति कोश' का यह संस्करण प्राथमिक है इसलिये इसमें परिष्कार और परिवर्द्धन की अपेक्षा भी है। इसमें वनौषधियों के प्रयोग और उनके द्रव्य गुणों के परिचय के साथ-साथ प्रकाशन की आधुनिक विधाएं भी परिपालनीय हैं। आशा है अगले सस्करण मे ऐसा किया जायेगा। फिर भी इस अनूठे खजाने को प्रकाश में लाने के लिए जैन विश्व भारती के सभी संबंधित पदाधिकारी एवं कार्यकर्ता बधाई के पात्र हैं।

—परमेश्वर सोलंकी

कालक्रम और इतिहास

जैन कालगणना और तीर्थंकर-परम्परा

□ परमेश्वर सोलंकी

वैदिक परम्परा में १४ मन्वन्तर काल की सृष्टि है। राजर्षि मनु ने १४ मन्वन्तरों में स्वायंभुव, स्वारोचिष, औत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष-६ मन्वन्तरों के बीतने पर सातवें मन्वन्तर-वैवस्वत में मानवोत्पत्ति कही है और तदनु सात और मन्वन्तरों तक सृष्टि की आयु बताई है। "शतं मे अयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः"— वेदोक्ति के अनुसार यह सृष्टि आयु सौ अयुत हायनों के पीछे क्रमशः २, ३, ४ अंक लिखने पर ४३२ करोड़ वर्ष होती है।

जैन कालगणना में असख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालशृंखला है जिसमें हुण्डा-वसर्पिणी काल मे ब्राह्मणवर्ग और पंचम काल में चाण्डाल आदि की उत्पत्ति होती है। उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल शृंखला को छह, छह आरों मे विभाजित कर ४,३,२ क्रम से काल परिमाण में कोड़ाकोड़ी सागर माना जाता है। चौथेकाल को बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर और पांचवे-छठे काल को, दुषमा-दुषमा तथा सुषम-सुषमा को, इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष का होने से कालमान दस-दस कोड़ कोड़ी सागर से बीस कोड़ाकोड़ी सागर होता है।

जैन परम्परा में १४ कुलकर- प्रतिश्रुति, सम्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरूदेव, प्रसेनजित् और नाभि कहे जाते हैं। नाभि के पुत्र ऋषभ प्रथम तीर्थंकर हैं। उनके पश्चात् महावीर तक २४ तीर्थंकर हैं—ऋषभ, अजित, संभव, अभिनंदन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदत, शीतल, श्रेयास, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म, शांति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और महावीर। ऋषभ को ऋषभनाथ, वृषभनाथ और आदिनाथ कहा जाता है। नौवें पुष्पदंत को सुविधिनाथ, १४ वें को अनतनाथ और अनंतजित्, २० वें मुनि सुव्रत को सुव्रतनाथ, २२ वें नेमि को अरिष्टनेमि और अन्तिम महावीर को वर्धमान, वीर, अतिवीर, सन्मति, चरमतीर्थंकर, ज्ञातृनंदन, नागपुत्र, देवार्य आदि अनेकों नामों से स्मरण किया जाता है। इनमें मुनिसुव्रत और नेमिनाथ हरिवंश में और शेष सभी तीर्थंकर इक्ष्वाकुवंशी कहे गए हैं।[1]

चौबीस तीर्थंकरो मे महावीर-निर्वाण पावापुरी में, नेमिनाथ— निर्वाण अर्जयन्तगिरि (गिरनार), वासुपूज्य का चंपापुरी और ऋषभनाथ का निर्वाण कैलाश (अष्टापद) पर हुआ कहा गया है। शेष सभी का निर्वाण एक स्थान सम्मेद-शिखर पर हुआ बताया जाता है। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ

के जीवनकाल से संबंधित दो घटनाएं (१) अरिष्टनेमि के विवाह की तैयारी और (२) पार्श्वनाथ पर तप अवस्था में कमठ द्वारा उपसर्ग—का शिल्पांकन भी पाया जाता है। राजगृह के वैभार पर्वत पर मिली एक प्रतिमा नेमिनाथ की मानी जाती है जो गुप्तकालीन है (ए. सो. इ. रिपोर्ट १९२५-२६) और मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त एक प्रतिमा भी गुप्तकालीन कही जाती है जिसमे वर्धमान की प्रतिमा के बार्डर के रूप में २३ तीर्थंकर अंकित किए गए हैं। उस पर लिखे अस्पष्ट लेख में 'प्रतिमा' शब्द पढ़ा जाता है।

सौभाग्य से कंकाली टीला, मथुरा की खुदाई मे एक टूटा हुआ फलक और मिला है जिस पर सं० ७९ वर्षा ऋतु के चतुर्थ मास की २० वीं तिथि का लेख है। फलक पर जिसे लेख मे "पूर्व्वा" कहा गया है, कोट्टियगण की भद्दरा शाखा के किसी अपवृधहस्ति द्वारा अरहत नंदीवृत की प्रतिमा का निवर्तन हुआ और उसे किसी श्राविका के कल्याणार्थ देवनिर्मित जैन स्तूप मे प्रतिष्ठित किया गया।

यह फलक और उस पर लिखा लेख अत्यधिक महत्त्व का है। १३ वीं सदी में हुए जिनप्रभ सूरि ने अपने 'तीर्थकल्प' में उक्त स्तूप को देवनिर्मित कहने के अलावा स्वर्णमंडित बताया है और लिखा है कि धर्मरुचि और धर्मघोष के कहने पर ईंटों से बने देवनिर्मित स्तूप के बाहर स्वर्णिम पत्थरों का मंदिर निर्माण हुआ था। परम्परानुसार निर्माण बाद १३ सौवें वर्ष में बप्पभट्टि सूरि के समय उसका जीर्णोद्धार हुआ। स्तूप का तल गोलाकार है। नीचे केवल गोल चबूतरा है जिस पर ढोल या कुएं की नाल के समान इमारत बनी है और उस पर अर्द्धगोलाकार प्रदक्षिणा पथ, आड़ी पटरियां और चारों दिशाओं में चार तोरणद्वार बने हैं। दीवालों के भीतर मिट्टी भरी है और बाहर की ओर मूर्तियां जड़ी थी। ५०० फुट × ३५० फुट के कंकाली टीले की खोदाई सन् १८७१ से १८९० तक हुई थी। उपरोक्त फलक पर उत्कीर्ण संवत् ७९ हमारी पहचान अनुसार देवपुत्र शक संवत् है जो विक्रम पूर्व ५४३ वर्ष में प्रवर्तित हुआ।[१]

इस प्रकार उक्त फलक विक्रमपूर्व ४६४ वर्ष में स्तूप में प्रतिष्ठित किया गया और उस समय उसे 'देव निर्मित' कहे जाने से अनुमान होता है कि वह बहुत प्राचीन हो गया था और लोग उसके निर्माता का नाम भूल गए थे। संभवतः इसी लिए धर्मरुचि और धर्मघोष ने उसके चौ तरफ स्वर्णिम पत्थरों से विशाल मंदिर बनवाया।[२] निर्माण के १३०० वर्ष बाद बप्पभट्टि के समय उसका जीर्णोद्धार हुआ। यह सूचना भी महत्त्वपूर्ण है। 'प्रभावक चरित्र' के अनुसार बप्पभट्टि ८११ विक्रमी मे 'सूरि' पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। तदनुसार उससे १३०० वर्ष पूर्व अर्थात् विक्रमपूर्व ४८९ में मंदिर का जीर्णोद्धार भी युक्ति संगत है।

२४ तीर्थंकरों की परिकल्पना

ऊपर वर्णित नेमिनाथ और वर्द्धमान प्रतिमाएं मूर्ति विज्ञान के प्रतिमानों के आधार पर ईसा की ४थीं-५ वीं सदी की मानी गई हैं। इनमें कंकाली टीले से प्राप्त वर्द्धमान प्रतिमा के बोर्डर मे ऊपर सीधे ७ और दाएं-बाएं ८, ८ कुल २३ तीर्थंकरों

के फलक बने हैं। अतः यह मान लिया जाना चाहिए कि इस काल में जैन जगत् २४ तीर्थंकरों के इतिवृत्त से सुपरिचित था किन्तु जैनेतर जगत् में उस समय तक ४ या ५ जैन तीर्थंकर ही मान्य थे। कहायूं (कहौम) से प्राप्त एक संस्कृत लेख इस संबंध में उल्लेख्य है जो उस पर लिखे लेख—'शक्रोपमस्य क्षितिप शतपतेः स्कंद गुप्तस्य शान्ते वर्षे त्रिंशद्दशैकोत्तरकशततमे ज्येष्ठमासि प्रपन्ने'—के अनुसार गुप्त संवत् १४१ में लिखा गया शिलालेख है।

इण्डियन एन्टीक्वेरी (जिल्द १० पृ० १२५-२६) में छपे इस लेख में नांदसा (भीलवाड़ा) यूप लेख कृत संवत् २८२ में उल्लिखित इक्ष्वाकु उपवंश मालव वंश के सेनापति सोगिसोम के वंशजों का वर्णन है।* सोगिसोम के पुत्र सोमिल पौत्र भट्टिसोम प्रपौत्र रूद्रसोम उपनाम व्याघ्र के पुत्र भद्र का विवरण देने वाला यह लेख मालव वंश के सत्ताच्युत होने का भी प्रमाण देता है। लेख में भद्र को द्विजगुरु कहा गया है जिसने जैन यतियों के लिए आदि कर्तृन् अर्हतों में पांच इन्द्रों की मूर्तियों से अलंकृत शैलस्तंभ स्थापित किया—'अर्हतानादिकर्तृन् पंचेन्द्रांस्थापयित्वा धरणिधरमयान् सन्निखातास्ततोऽयम् शैलस्तंभः।' संभवतः शैल स्तंभ पर उत्कीर्ण पांच आदिकर्ता अर्हत् आदिनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर रहे हों। शैल स्तंभ गांव के बाहर उत्तर में खड़ा है और उस भूरे शिला खंड पर पश्चिम को कायोत्सर्ग मुद्रा में महावीर प्रतिमा है और चौ तरफ चार तीर्थंकर हैं।

मथुरा के एक पेनल पर, जो कंकाली टीले की खुदाई में ही मिला है, भी ऊपरी भाग में स्तूप के दोनों ओर दो-दो जिन प्रतिमाएं बनी हैं जो क्रमशः बाएं आदिनाथ-शांतिनाथ और दाहिनें पार्श्वनाथ-महावीर दृष्टिगत होती हैं। पेनल पर नीचे 'श्रमणो कान्ह' और उसकी पत्नी धनहस्तिन तथा तीन सेवकों का अंकन है। पेनल पर सं० ९५ (४४८ विक्रम पूर्व) का अंकन है। उस समय तक श्वेतांबर-परंपरा में चार ही जिनों की पूजा का परिचय भी इस पेनल से प्रतीत होता है क्योंकि श्रमण कान्ह वस्त्रधारी है। वहीं से प्राप्त तीन मूर्तियों का एक चतुस्स्तंभ भी उल्लिखित है, और उस पर सं० १५ (विक्रम पूर्व ५२८) का लेख है। यह चतुस्स्तंभ श्रेष्ठि वेणी की पत्नी और भट्टिसेन की माता कुमारमिता द्वारा प्रदत्त और आचार्य जयभूति की शिष्या संघमिका द्वारा वसुला के कल्याणार्थ प्रतिष्ठापित हुआ बताया गया है।

लालगढ़ (बीकानेर) के अनूप संस्कृत ग्रंथालय में सुरक्षित कंचु यल्लार्य भट्ट के ज्योतिष दर्पण नामक ग्रन्थ में, जो (शशांक नेत्राष्टमिताः ८२१ शकाब्दाः) शक संवत् ८२१ का लिखा है, भी कालगणना-प्रसंग में लिखा है कि—

'कल्यब्दाः रूप रहिता पांडवाब्दाः प्रकीर्तिताः'

'भारताब्दा वसु जिनैर्युक्ता स्यु कलिवत्सराः।'

अर्थात् कलि संवत् और पाण्डव संवत् में कोई अन्तर नहीं है किन्तु महाभारत युद्ध और कलिवत्सर में वसुजिनैः=४८ दिन का अन्तर है। यहां जिनैः से तात्पर्य २४ होता तो विसंगति होती क्योंकि १८ दिनों के युद्ध के बाद ३० दिन तक प्रदोष (जब पांडवों ने हस्तिनापुर से बाहर रहकर पितृतर्पण किया) शुद्धि करने पर ही महाराजा युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हुआ और पांडवाब्द शुरू कहे जा सकते हैं।

इस प्रकार जैनकालगणना के साथ तीर्थंकरों की परम्परा बहुत पुरानी है किन्तु संभवतः गुप्तकाल से पहले प्रतीकरूप से उसमें ऋषभनाथ, शांतिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर कुल चार ही तीर्थंकर पूजनीय माने जाते थे जो क्रमशः प्रथम, सोलहवें, तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकर हैं। डॉ० देवसहाय त्रिवेद ने 'क्रोनोलोजी ऑफ इंडिया', १९६३ में भगवान् ऋषभ का काल ४८६०+३०४३ =७९०३ विक्रम पूर्व माना है जो २४ तीर्थंकरो की परम्परागत आयु को वर्षों में परिवर्तन करने से प्राप्त ६७१६ वर्ष ७ माह महावीर निर्माण तक+१००० बाद कल्कि (सैण्ड्रकोटस) के होने और+ २५८ वर्ष सैण्ड्राकोटस से विक्रम तक के कालमान अर्थात् ६७१६+१०००+२५८= ७९७४-७२ वर्ष (महावीर जीवन) तुल्य है।[५]

संदर्भ

१. भगवान् महावीर के संबंध में कल्पसूत्र में लिखा है कि प्रथम अपने कर्म विपाक से उन्होंने ब्राह्मणी देवनंदा के गर्भ में प्रवेश किया, फिर हरिनेगमेषी देव के द्वारा क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में यह घटना कंकाली टीला (मथुरा) में मिले एक फलक पर चित्रित है। जो खण्डित होते हुए भी पूरी कथा कह देता है। डॉ० बूह्लर ने इस फलक का फोटो एपिग्राफियाइण्डिका, भाग-२ (पृ० ३१४ प्लेट २) में प्रकाशित कर कल्पसूत्र की कथा लिखी है। कंकाली टीला (मथुरा) से जनरल कनिघंम को भी ४ मृ० मूर्तियां मिलीं जिन में दो हरिनेगमेषी की है और दो में दो महिलाएं हाथों में दो बच्चे लिए खडी हैं। देखें - कनिघम रिपोर्ट, भाग-२० पृ० ३६ प्लेट ४

२. विक्रम पूर्व ५४३ वर्ष से शुरू होने वाले देवपुत्र शक संवत् संबंधी जानकारी के लिए कृपया 'तुलसी प्रज्ञा', लाडनूं भाग १६ अंक, १ में (पृ० ३५-४०) प्रकाशित लेख— 'सुमतितंत्र का शक राजा और उसका कालमान' देखें।

३. जनरल कनिघंम ने सन् १८५३, १८६०, १८६३ में कंकाली टीले का निरीक्षण किया था। डॉ० फूहरर् ने १८८८-८९, १८८९-९० और १८९०-९१ में टीले का एक्सप्लोरेशन किया। उसकी रिपोर्ट ३१ मार्च १८८९ में मथुरा से प्राप्त निम्न वस्तुएं दर्ज हैं --

१० श्वेतांबर जैन मंदिर के अवशेष और मूर्तियां, ८४ मूर्ति अवशेष, एक महावीर मूर्ति जिसपर २३ तीर्थंकरों का बोर्डर है; दो सं० १०३६ और ११३४ की विशाल मूर्तियां जो जिनपद्म प्रभनाथ की है; चार जैन मूर्तियों के पादासन जो सं० ११३४ के हैं; ७ बुद्ध मूर्ति अवशेष; एक बोधिसत्त्व; १० बुद्ध की उल्लिखित मूर्तिया; एक विशाल नृत्यांगना की मूर्ति; १९ बुधिष्ट रैलिंग पिसेज; १६ क्रोसबार; १२ रैलिंग पिसेज; एक डोर जम्ब; एक पत्थर का बना कलापूर्ण छत्र; एक चौमुंहा सिंह स्तंभ; २४ मूर्तिफलक और एक बड़ा फलक जो शेल अक्षरो में उल्लिखित होने से महत्त्वपूर्ण है।

कंकाली टीले के बाबत अनेकों रिपोर्ट प्रकाशित हैं। वहां खोदाई से ज्ञात

स्तूप पर विसेंट ए स्मिथ ने डॉ० फूहरर् के बाद उसके द्वारा तैयार की गई प्लेट और विवरण को सन् १९०० में प्रकाशित कराया है। लखनऊ म्यूजियम के केटेलोग् में भी बहुत सी जानकारी उपलब्ध है।

४. नांदसा यूप लेख संबंधी विवरण के लिए मरु भारती, पिलानी में प्रकाशित हमारा लेख—'राजस्थान प्रदेश का प्रथमगण प्रमुख सोहर्त्र सोगि सोम' देखें।

५. २४ तीर्थंकरों की परंपरागत आयु ऋषभ से शांतिनाथ तक मुहूर्तों में दी है जो लाखों में है। कुंथुनाथ से नेमिनाथ तक की परम्परागत वय अहोरात्रों में परिगणित है जो हजारों के अंकों में है जबकि पार्श्वनाथ और महावीर की आयु वर्षों में है। ऐसा हमारा अनुमान है। क्योंकि प्राचीन काल में वय को एक जैसी संख्या में बदलकर लिखा जाता था जैसे ५५ वर्ष, तीन ऋतु, एक माह, १ पक्ष, ११ अहोरात्र और २३ मुहूर्त्त के जीवन काल को एक संख्या में परिवर्तन से यह आयु ६०,१,१०३ मुहूर्त्त अथवा ३,६३,९७,०८० प्राण तुल्य होगी। इसी प्रकार उक्त आयु आदि सबको वर्षों में बदलने पर ६७१६ वर्ष ७ माह ६ अहोरात्र और २० मुहूर्त प्राप्त होते हैं। यह महावीर निर्माण तक का काल है।

कल्की व सन्द्रकुपतस्

☐ देवसहाय त्रिवेद

श्री परमेश्वर सोलंकी ने नेपाल के सुमति तंत्र के शकराजा (तुलसी प्रज्ञा-१६।१।३५-३७) तथा 'त्रिलोकसार' के कल्की राजा व सैण्ड्राकोटस् (तुलसी प्रज्ञा १६।२।३५-३९) पर सामग्री प्रकाशित करके प्राच्यजगत् को नयी दिशा दी है। मैं स्वयं चिरकाल से आक्रान्त था कि किस प्रकार कल्की राज की सन्द्रकुपतस से समता की जाय। इस दिशा में श्री चन्द्रकांत बाली तथा श्री उपेन्द्रनाथ राय ने भी स्तुत्य कार्य किया है जो 'तुलसी प्रज्ञा' में प्रकाशित है।

हमारे इतिहास को पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अन्धानुयायी भारतीयों ने राजनीतिक कारणों से एकदम उलझाकर रख दिया है जिससे सत्यार्थ का पता चलना दुस्कर हो गया है। जब तक भारत का इतिहास भारतीय स्रोत पर आधृत तथा अन्य प्राप्त स्रोतों से परिप्लुत नहीं होता वह ग्राह्य न होगा। अतः हमे मूल में जाने की आवश्यकता है। आर्यों का बाहर से आगमन तथा सिकन्दर-चन्द्रगुप्त मौर्य की तथाकथित समकालिकता ही अभी तक हमारे आधुनिक प्रचलित इतिहास की पृष्ठभूमि हैं।

सन् १९८८ अप्रिल २ को इलाहाबाद में दस विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों की सभा से एक संगोष्ठी हुई थी। डाक्टर कृष्णादत्त बाजपेयी ने इस सभा की अध्यक्षता की तथा डाक्टर जयशंकर त्रिपाठी इसके संयोजक थे। प्रकृत लेखक ने अपने सैद्धांतिक निबंध में प्रतिपादित किया कि सिकन्दर का भारतीय समकालिक गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त=Sandrocyptus सन्द्रकुपतस् है न कि चन्द्रगुप्त मौर्य जिसने १५३६ ई० पू० से १५०२ ई० पू० तक ३४ वर्ष राज्य किया। रमेशचन्द्र मजूमदार ने अपने विशाल ग्रन्थ में उसे सैण्ड्राकोटस् लिखा है किन्तु मिक्रिण्डल ने स्पष्ट लिखा है कि शुद्ध शब्द व पाठ सन्द्रकुपतस है। इस लेखक ने सगोष्ठी के सभी आक्षेपों को उत्तर सहित व अपना अभिमत "समाज धर्म एवं दर्शन" (त्रैमासिक) प्रयाग (वर्ष ६ अक २ व ३) में प्रकाशित किया। इसका अनुमोदन भी उपेन्द्रनाथ राय ने अपने दो निबंधों मे लिखा जो उसी पत्रिका में प्रकाशित हुआ।

जब तक हम अपना इतिहास महाभारत युद्ध-तिथि को कहीं भी स्थिर मान कर न लिखेंगे जो सभी आलेख, साहित्य साक्ष्य परम्परा व ज्योतिर्गणना से सिद्ध हो सके, वह प्रमाणिक व सर्वमान्य न होगा। इस क्षेत्र में भारत युद्ध काल निर्णयार्थं समाज, धर्म एवं दर्शन, (८।१ तथा ८।२) दर्शनीय व विचारणीय है।

जिस प्रकार जैनागमों में ऋषभदेव से शान्तिनाथ तक १६ तीर्थङ्करों की आयु

लाखों वर्ष में तथा कुन्थुनाथ से नेमिनाथ तक ६ तीर्थङ्करों की आयु सहस्रकों में दी गयी है उसी प्रकार भारतीय ग्रंथों में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग मे मानव-आयु क्रमश: एकलाख, दश सहस्र, एक हजार व सौ वर्ष कही गयी है। रामायणकार (९।३६।१५ तथा ९।१२८।१०१) कहता है कि दस लाख वर्ष बीतने पर भी हनुमान की मृत्यु न होगी तथा राम के राज्य मे सभी एक सहस्र वर्ष तक जीवित रहते थे। अपितु आर्यभट्ट व पुलिश ने अपने ग्रथो मे 'सभी युगो का मान समान माना है। इसी आधार पर लेखक ने प्राचीन भारतीय कालक्रम (समाजधर्म एवं दर्शन ९।३) तथा अपनी इण्डियन क्रानोलाजी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई से प्रकाशित की है।

समुद्रगुप्त के जन्मस्थान का पता नही किन्तु जायसवाल उसे कारस्कर जाट (कक्कर) पंजाब का बतलाते हैं। मुरादाबाद जिला में सभल ग्राम पश्चिम उत्तरप्रदेश में पंजाब से सटे हैं। प्रयाग प्रशस्ति मे उसे विष्णु का अवतार कहा गया है। तथा एक शिलालेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय को देवराज इति प्रियनाम्ना संबोधित किया गया है। समुद्रगुप्त महान् शूर, वीर, योद्धा, विजेता, गायक, वादक, कलाविद् व न्यायी था। उसने समस्त भारत को ही नही किन्तु द्वीप द्वीपान्तरो व सुदूर नरेशों को भी करद बनाया। शाही शाहानुशाही, शक व मुरण्डादि सभी उसके वशवर्ती थे अत: वह शकों का भी राजा था। उसकी कीर्ति से दक्षिण महासागर सदा लहराता रहता था। उसने विष्णुध्वज नामक विशाल वेधशाला पांच करोड़ चालीस लाख स्वर्ण सिक्कों से बनवाया। वह दु:खियो को सहारा, अशरण्य को शरण देता तथा विद्वानों का समादर करता था। इसी कारण उस काल से स्वर्णयुग या कृतयुग का आरंभ होता है। अत: कल्किराज से इस समुद्रगुप्त का समीकरण करना समीचीन होगा।

यदि हम भारतीय इतिहास लेखन भारत युद्धकाल ३१३७ ई० पू० से करते हैं तब समुद्रगुप्त का काल सिकन्दर के समकाल हो जाता है। भारत युद्ध के बाद बृहद्रथ, प्रद्योत, शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग, काण्व व आन्ध्रवश के राजाओं के कुल १०६ नरेशों ने (२२+५+१२+९+१२+१०+४+३२) २८१० वर्ष (१००१+१३८+ ३६२+१००+३१६+३०२+८५+५०६)

राज्यकिया। अत: गुप्तवंश के राजाओं का अभ्युदय काल ३२७ ई०पू० (३१३७- २८१०) है।

यूनानी लेखक प्लिनी के अनुसार फादर बैकस से सिकन्दर तक १५४ राजाओं का कालमान ६४५१ वर्ष ३ मास है। यदि हम बैकस् का का समीकरण वैवस्वत मनु से करें तो मनु का काल आता है ६७०१ ई० पू०। मनु के बाद कृत, त्रेता, द्वापर के कुल ३६०० वर्ष (१२००×३) होते हैं तथा प्रत्येक युग में १६ प्रमुख नृप कहे गये हैं अत: नृपसख्या होगी ४८ किन्तु युधिष्ठिर द्वापर का अन्तिम नृप है जिसने ३६ वर्ष राज्य किया अत: कुल ४७ राजाओं का राज्य काल होगा ३५६४ (३६००-३६) वर्ष। अत: वैकस् या वैवस्वत मनु से समुद्रगुप्त तक के पूर्व तक कुल नृप संख्या होगी (१०६+४७) १५३ तथा उनका काल मान होगा (३५६४+२८१०) ६३७४ वर्ष। यदि इसमें ३२७ का योग करें जो गुप्तनृपाभ्युदय काल है तो मनुका

काल होगा ६७०१ ई० पू० । समुद्रगुप्त की आयु ७७ वर्ष ३ मास है तथा इसका जन्म ३४५ ई० पू० हुआ था तथा सिकन्दर से १० वर्ष वय में कम था, अतः समुद्रगुप्त तक कालमान होगा ६३७४+७७) ६४५१ वर्ष ३ मास। अतः समुद्रगुप्त को ही सन्द्रकुपतस् मान लेने पर सारी गुत्थियां सुलझ जाती हैं। अतः समुद्रगुप्त ही त्रिलोकसार का कल्की नृप हो सकता है। क्योंकि उसको मिलाकर नृपसंख्या १५४ होती है। श्री उपेन्द्रनाथ राय ने गर्ग के वराहमिहिर व कल्हण द्वारा उद्धृत आर्या का अर्थ ठीक ही किया है कि युधिष्ठिर के समय सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे तथा जब गर्ग ने अपना ग्रन्थ रचा उस समय तक २५२६ वर्ष युधिष्ठिर के समय से बीत गये थे। अतः यह काल अन्य शक सवत् से सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु यह युधिष्ठिर शक काल का द्योतक है।

महाभद्रेण राजवंश का भारतीय इतिहास में कहीं प्रमुख स्थान नहीं। अतः इसके साथ पिता बैंकस से सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं प्रतीत होता है। भले ही समुद्रगुप्त महाभद्रेण वंश का हो।

मुझे खेद है कि वृद्धावस्था (८२) तथा वाञ्छित पुस्तकों के अभाव में मैं इस विषय में विस्तार से न जा सका, पाठकवृन्द क्षमा करें। ■

टिप्पणी

१. स्व० डा० देवसहाय त्रिवेद ने 'सैण्ड्राकोटस्' को 'सन्द्रकुपतस्' माना है और मिक्रिण्डल द्वारा भी उसे "सन्द्रकुपतस्" ही लिखने का हवाला दिया है। 'इण्डियन क्रोनोलॉजी' में डॉ० त्रिवेद ने सिकन्दर के समकालिक राजाओं में चन्द्रगुप्त-I और समुद्रगुप्त-गुप्तराजाओं को बी. सी. ३२७ से सत्तारूढ़ बताया है। पुणें से छपे अपने 'भारत का नया इतिहास' में भी उन्होंने नौंवा अध्याय 'समुद्रगुप्त' पर लिखा है किन्तु कालमान नहीं दिया। स्वर्गीय पं० भगवद् दत्त भी गुप्तवंशी सम्राट् समुद्रगुप्त को 'विक्रमार्क' मानकर उसे ईसवी पूर्व का शासक मानते हैं।

२. वयोवृद्ध लेखक द्वारा महाभद्रेन वंश से अपरिचित होने की बात कही गई है। उसके लिए हम पं. रघुनंदन शर्मा की कृति—वैदिक संपत्ति (मुंबई संस्करण सं. २०१६ पृ० ३८) से Theogony of the Hindns का उदाहरण देना चाहेंगे—
"The Bactrian document called Dabistan (found in Kashmir and brought to Europe by Sir W. jones) gives an entire register of kings, namely of the Mahabadernes, whose first link rigned in Bactria 5600 years before Alexander's expedition to India and consequently several hundred years before the time given by the

Alexandrine text for the appearance of the first man upon the earth." उल्लेखनीय है कि इसी से मिलता-जुलता उद्धरण श्री अविनाशचन्द्रराय के 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में भी है।

३. Count Bjornstjerna ने अपनी 'हिन्दू थियोगांनी' में पोलीभोथ्रा के राजा कन्द्रगुप्तो (चन्द्रगुप्तो)Kandragusto को King of the Gangarides लिखा है। हमारी समझ में यह "टूडे टूमॉरो" द्वारा पुनः मुद्रित जे. डब्लू. मिक्रिण्डल की 'दी कोमर्स एण्ड नेवीगेसन आफ दी अर्थरेयन सी' के साथ छपी 'इण्डिका' के उद्धरणों से तुलनीय है।

—डॉ० परमेश्वर सोलंकी

'हस्तिकुण्डी' के दो जैन शिलालेख

'ओसवाल जाति का इतिहास' जो ओसवाल हिस्ट्री पब्लिशिंग हाउस, भानपुरा (इन्दौर) द्वारा सन् १९३४ में वैदिक मन्त्रालय, अजमेर से मुद्रित कराके प्रकाशित किया गया, उसमें (पृ० १८२-१८४) हस्तिकुण्डी के जैन मंदिर लेखों का विवरण छपा है। इस विवरण में एक शिलाखण्ड पर लिखे दो शिलालेखों का विवरण ऐतिहासिक महत्त्व का है; इसलिये उसका परिचय यहां दिया जा रहा है—

सर्व प्रथम उक्त शिलाखण्ड केप्टन बर्क को मिला था जिसे उसने बीजापुर की एक जैन धर्मशाला में रख दिया था। प्रो० किलहार्न ने इसकी लिपि को विग्रहराज के शिलालेख सं० १०८० की लिपि से मिलती-जुलती बताया। बाद में महामहोपाध्याय पं० रामकरण आसोपा ने उसे पढ़कर सम्पादित और प्रकाशित किया।

एक ही शिलाखण्ड पर ये दो पृथक्-पृथक् लेख उत्कीर्ण हैं। पहला लेख जो संवत् ९९६ तक के विवरण का है वह दस पंक्तियों में है और शिलाखण्ड के नीचे के हिस्से पर है। दूसरा शिलालेख ऊपर की २२ पंक्तियों में है जो संवत् १०५३ का है। पहले लेख में २१ पद्य हैं और दूसरे मे ४० पद्य। लगता है, ये दोनों लेख एक साथ ही उत्कीर्ण हुए हैं।

पहले लेख के प्रथम श्लोक में जैनधर्म की प्रशंसा है और दूसरे से चौथे श्लोक तक क्रमशः राजा हरिवर्म, विदग्धराज, मम्मटराज, का वर्णन है और लिखा गया है कि विदग्धराज ने आचार्य बलभद्र के उपदेश से हस्तीकुण्डी में एक मनोहर जैन मन्दिर बनवाया और उसके दैनंदिन खर्च के लिए आवक जावक माल पर कर लगाया। यह राज्यादेश सं० ९७३ का है और बाद में माघ बदी ११ सं० ९९६ को मम्मटराज द्वारा उसका समर्थन किया गया है। तदुपरांत जब तक पृथ्वी पर पर्वत, सूर्य, भारतवर्ष, गंगा, सरस्वती, नक्षत्र, पाताल, सागर की संस्थिति है तब तक यह शासन पत्र केशवसूरि की संतति में चलता रहे—का उल्लेख है।

दूसरे लेख में कवि का नाम सूर्य्याचार्य बताया गया है और उसके प्रथम दो श्लोकों में जिनदेव की स्तुति है। तीसरे श्लोक से राजवंश का वर्णन है जो अस्पष्ट हो गया है। हरिवर्म्मा और विदग्धराज के नामोल्लेख के बाद छठे पद्य में वासुदेव आचार्य के उपदेश से हस्तीकुण्डी में मन्दिर बनाए जाने का उल्लेख है। सातवें पद्य में राजा द्वारा अपने वजन के बराबर स्वर्ण दान किया जाना और आठवें पद्य में विदग्धराज की गादी पर मम्मटराज के बैठने और उसके उत्तराधिकारी धवलराज का वर्णन है।

अगले दस श्लोकों में धवलराज के यश और शौर्य का बखान है। दसवें श्लोक में लिखा है कि मुञ्जराज ने जब मेदपाट के अघाटपुर पर चढ़ाई की और उसका नाश किया और जब उसने गुर्जर नरेश को भगा दिया तब धवलराज ने उनकी सेना को आश्रय दिया। ग्यारहवें श्लोक में धवलराज द्वारा महेन्द्रराजा को दुर्लभराज के पराजय से बचाये जाने का उल्लेख है। बारहवें श्लोक में मूलराज द्वारा धरणीवराह पर चढ़ाई होने पर अनाश्रित धरणीवराह को धवलराज द्वारा शरण देने का वर्णन है।

श्लोक संख्या १३ से १८ तक धवलराज का गुणगान किया गया है। १९वें श्लोक में वृद्धावस्था आने पर धवलराज द्वारा अपने पुत्र बालप्रसाद को राज्य-भार सौंपने का ब्यौरा है और फिर सताइवे श्लोक तक हस्तीकुण्डी की शोभा वर्णित है।

अट्ठाइसवें श्लोक मे लिखा है कि इस प्रसिद्ध हस्तीकुण्डी नगर में शांतिभद्र नामक प्रभावशाली आचार्य रहते थे। २९वें श्लोक में शांतिभद्रसूरि द्वारा वासुदेवसूरि को आचार्य पद देने का उल्लेख है और उन्हें विग्रहराज का गुरु कहा गया है। श्लोक ३१,३२ में शांतिभद्रसूरि की प्रशंसा है और ३३वें श्लोक में उनके उपदेश से गोठी सघ द्वारा तीर्थंकर ऋषभदेव मन्दिर के पुनरुद्धार करने का उल्लेख है। दो श्लोकों में इस मन्दिर का मनोहारी वर्णन है और छत्तीसवें-सेंतीसवें श्लोकों में बताया गया है कि उक्त मन्दिर विदग्धराज ने बनवाया था जिसका पुनरुद्धार किया गया तो संवत् १०५३ की माघ सुदी १३ को श्री शांतिसूरिजी ने उसमें प्रथम तीर्थंकर की सुन्दर मूर्ति प्रतिष्ठित की।

शेष तीन श्लोकों में क्रमश: राजा विदग्धराज द्वारा स्वर्णदान, मन्दिर की यावत् चन्द्रदिवाकर स्थिरता और प्रशस्तिकर्ता सूर्य्याचार्य का उल्लेख किया गया है।

अन्त में एक पंक्ति में लिखा गया है कि उक्त मन्दिर की प्रतिष्ठा सं० १०५३ माघ सुदी १३ को पुष्य नक्षत्र में की गई और मन्दिर पर ध्वजारोपण हुआ।

ये दोनों लेख ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व के है। स्पष्ट है कि दोनों शिलालेख एक साथ राजा बालप्रसाद के शासन काल मे और श्री शांतिसूरि के सान्निध्य मे उत्कीर्ण हुए हैं।

श्री शांतिसूरिजी के गुरु वासुदेवसूरि अपर नाम बलभद्र आचार्य, उनके गुरु शांतिभद्रसूरि हैं। श्री शांतिसूरिजी के शिष्य केशवसूरि है जिनकी संतति के लिए ये शासन पत्र लिखा गया है।

राजा बालप्रसाद का शासन वि० सं० १०५३ मे वर्तमान था किन्तु उसके पिता राजा धवलराज का शासन संभवत: स० १००० से पूर्व शुरू हो गया था क्योकि सं० ९९६ में धवलराज के पिता मम्मटराज का शासन था। हस्तीकुण्डी मे गुर्जर नरेश, महेद्रराज, धरणीवराह — तीन शासनाध्यक्षों को शरण मिली - यह इस शिलालेख की सर्वाधिक महत्त्व की सूचना है।

यह हस्तीकुण्डी राज्य चालुक्य, चाहमान और परमार राज्यों से सटा हुआ था इसीलिये मुंज के द्वारा आघाटपुर पर आक्रमण करने पर और मूलराज के द्वारा धरणीवराह पर आक्रमण करने परमूल राज और धरणीवराह—दोनों को यहां शरण मिली। इसी प्रकार नाडोल के चौहान राजा महेंद्र को दुर्लभराज से पराजित होने पर भी हटूण्डी में शरण मिली।

—परमेश्वर सोलंकी

भारतीय माप और दूरीयां

प्रताप सिंह

कोई ७५ वर्ष पहले महानगरी कलकता मे विज्ञान परिषद के वार्षिकोत्सव के अधिवेशन में किसी अंग्रेज वैज्ञानिक ने चुटकी ली कि भारत विज्ञान में काफी पिछड़ा हुआ है तो डा. मेघनाथ शाह ने बचाव पक्ष में कहा कि आप ठीक फरमाते हैं परन्तु आज भी आपकी तौलने की इकाई (unit) ग्राम चना ही है, और भारत में खसखस है। एक ग्राम (gram) में कोई १ हजार खसखस होते हैं। अत: आज भी भारत आप से हजार गुना आगे है।

मेरी यह धारणा है कि हमारी अवनति का एक कारण मानसिक आलस्य ही है। हम, वेद में ज्ञान विज्ञान अनन्त है, को भूल गए हैं।

कोई ५०-६० वर्ष से मै गणितज्ञों और वैज्ञानिको से पूछता आ रहा हूं कि वृत्त में ३६० अंश तथा उसके चार भाग कर समकोण मे ९० अंश (degree) क्यो होते हैं ? सभी का उत्तर ममान है कि ऐसी मान्यता है। कुछ कालान्तर मे ऋग्वेद के मंत्र (२-१६४-४८) को देखा कि वाक् वाणी चार हैं, वेद चार हैं, वर्ण चार हैं, आश्रम चार, दिशाएं चार, पुरुषार्थ चार, अहंकार चतुष्ठय, दिन के चार प्रहर आदि हैं। तो वृत्त (circle) के भी चार भाग करने पर समकोण में ९० अंश (degree) आ जाता है। इस प्रकार वृत्त में ३६० अंश का आधार ऋग्वेद का ऋ (१-१६४-४८) मंत्र है। यही मंत्र अथर्व वेद (९०-८-४) मे भी है। इस मंत्र में खगोल को बैलगाडी के लकड़ी के पहिए के समान कहा है। जो परमात्मा रूपी धुरी (anile) पर घूमता है। अथर्ववेद के दूसरे (९-९-११) मंत्र के अनुसार यह पहिए का धुरा कभी न टूटता है, न कभी गर्म होता है। क्योंकि परमात्मा सदा एक रस स्थिर रहता है।

ऋग्वेद का मंत्र (१-१६४-१२) पांच काल-अवयव, क्षण, मुहूर्त, प्रहर, दिन, पक्ष, ६ ऋतुएं, ३६० अहोरात्र तथा १२ मास का वर्ष देता है। अथर्व वेद मंत्र (२०-४८-६) तथा सामवेद का यही मंत्र (६.३२) एक अहोरात्र ३० मुहूर्त का कहता है। ऋग्वेद मंत्र (१-१६४-४८) भी १२ मास का वर्ष तथा ३६० अहोरात्र का वर्ष देता है। ऋग्वेद (४-३५-४) मंत्र ३० अहोरात्र का मास और १२ मास का वर्ष कहता है। यहां पर अहोरात्र सूर्य से, मास चन्द्रमा की ३० तिथियों से तथा वर्ष सूर्य से निर्धारित है। परन्तु यह चन्द्र मास ३० अहोरात्र से कुछ न्यून होता है। प्रतिमास १ तिथि क्षय होती है, अत: १ वर्ष वा १२ मास में लगभग १२ तिथियां क्षय होती

हैं। २½ वर्ष में ३० तिथियां क्षय होने से इस त्रुटि की पूर्ति प्रति २½ वर्ष बाद १ अधिक मास लगा, सौर वर्ष पूरा करने के लिए ऋग्वेद मंत्र (१-२५-८) एक अधिक मास (१३ वां मास) लगाता है। इतने पर भी कुछ त्रुटि शेष रह जाती है।

वेद अनुसार वृत्ताकार गति मानकर वृत्त के ३६० भाग कर सूर्य के वृत्त को केन्द्र पर रखकर वृत्त की परिधि पर पृथ्वी सौर परिक्रमा कर रही है। केन्द्र पर एक व्यास उत्तर-दक्षिण तो दूसरा व्यास पूर्व पश्चिम खींच देने पर केन्द्र पर स्वत. ९०-९० डिग्री के चार समकोण बन जाते हैं। इसी प्रकार १-१ डिग्री के ३६० व्यास खींच देने पर परिधि भी सरलता से ३६० भागो मे बट जाती है। यह ३६० अरे ३६० अहोरात्र बन जाते हैं। पृथ्वी एक अहोरात्र मे १ डिग्री सम गति से सौर परिक्रमा करती रहती है। वेद में कितनी सरलता से पृथ्वी अण्डाकार असम गति को वृत्ताकर सम गति में बता दिया गया है। १२ × ३०=३६० का सरल आधार वेद ने युगों, कल्पों आदि की गणना मे कितनी सरलता प्रदान करता और याद बना रहता है। १ युग १२ वर्ष तथा मानव की आयु १०० वर्ष से कलि युग की सख्या १००×१२×३६०=४३२००० मानव वर्ष आ जाते हैं। इसी पर एक शून्य लगा देने से महायुग-चतुर्युग हो जाता है। इसे १००० से गुणा करने पर कल्प आ जाता है। कल्प से महाकल्प, मोक्ष की अवधि परान्तकाल १००×३६०×२=७२००० कल्प आ जाता है। वेद की गणना में सरलता है। उसकी महानता है।

पृथ्वी, चन्द्रमा आदि की सौर परिक्रमा दीर्घवृत्ताकार (Elliptical) अण्डाकार है परन्तु ज्योतिष मे उन्हे वृत्ताकार मानकर गणना की जाती है। वृत्ताकार व अण्डाकार परिधियों मे अन्तर है। खगोल मे दूरियां इतनी विशाल हैं कि काल गणना में प्रतिशत अन्तर न्यून होने से नगण्य है। पृथ्वी का परिक्रमा काल लगभग ३६६ अहोरात्र तथा चन्द्रमा का ३५४ अहोरात्र होता है। किसी भी गणितीय या वैज्ञानिक विधि से इन परिधियों को इन अशों मे बाटना असंभव है। इनका औसत ३६६+३५४/२= ३६० होता है। ऋग्वेद मत्र (१-१६४-४८) भी १२ मास का वर्ष ३६० अहोरात्र कहता है। इस अवधि को ४, ६,८,१२ अशो में बांटना अन्यन्त सरल है। यही मंत्र १२ राशियों से १२ मास का वर्ष कहता है। १२×३०=३६० होने से १ मास ३० अहोरात्र, ३० तिथियो का हो जाता है। खगोल रूपी पहिए की १२ राशियां बैल-गाड़ी पहिए को १२ पुठी (प्रधय·) मन्त्र देता है। इसमें तीन नाभियां, ३६० अहोरात्र रूपी ३६० अरे (spokes) जुड़े हैं। मजबूती के विचार से गाड़ी के पहिए में ६ पुठी ही होती है। यह ६ ऋतुओ के प्रतीक हैं। एक ऋतु दो मास की हो जाती है। कितनी वैज्ञानिक व्याख्या है। इन्हीं १२ राशियो के आधार पर घड़ी के मुंह (dial) पर १२ घटे लिखे जाते हैं। पहिए की पुठी से जुड़े अरे पहिए की नेमि में ठुके होते हैं। मानों खगोल रूपी पहिए की १२ राशियों में प्रत्येक में ३०-३० अहोरात्र रूपी अरे ठुके हैं जिनके सिरे खगोल रूपी नेमि में ठुके हैं। बैलगाड़ी में वह नेमि कोई एक

बालिस्त व्यास और १ हाथ लम्बी काठ की होती है। इस नेमि की अक्ष (axis) में आरपार छेद होता है। जिसे नाभि कहते हैं। लोहे के धुरे (axile) पर यह पहिया चढ़ा दिया जाता है। इसी धुरी पर पहिया घूमता है। जिससे नाभि और धुरी में घर्षण होता है तो धुरा गर्म हो जाता है। घर्षण को कम करने के लिए धुरी पर तेल लगाया जाता है कि धुरा गर्म न हो। झटकों मे कभी-कभी यह धुरा टूट जाता है, अथर्ववेद मंत्र (९-९-११) कहता है कि ब्रह्माण्डरूपी पहिए की परमात्मा रूपी धुरी न कभी गर्म होती है, न कभी टूटती है। सदा एक रस रहता है। स्वयं नही घूमता। ब्रह्माण्ड को घुमाता है। यजुर्वेद (४०-५) मंत्र कहता है—**तदेजति तन्नैजति**। परमात्मा सदा एक रस रहता है। मजबूती के लिए गाडी के काठ के पहिए पर लोहे की हाल चढ़ी होती है। खगोल रूपी पहिए पर मानो २७ नक्षत्रों रूपी हाल चढी है। खगोल तथा गाड़ी के पहिए की समता पर मानो। शतपथ ब्राह्मण कहता है—**अस्मिन् वेदः निहिता विश्व रूपः**—जो ब्रह्माण्ड मे है वही वेद में है। जो वेद मे लिखा है वही सृष्टि में है। वेद सृष्टि की पाठ्यपुस्तक है तो सृष्टि इसकी प्रयोगशाला है।

केलिफोर्निया स्थित दूरबीन (Telescope) से वैज्ञानिको ने अनन्त आकाश गंगाएं (milky way) देखी हैं। हमारी आकाश गंगा मन्दाकिनी की हालनुमा परिधि पर स्थित हमारा सौर मण्डल एक तुच्छ अंश सा प्रतीत होता है। इसमे ६० लाख तारे तो गिन लिए हैं। दूरिया महान हैं। प्रकाश वर्ष आदि इकाइयों से मापते हैं।

अथर्ववेद (८-२-२१) मत्र सृष्टि की आयु एक कल्प अर्थात् १००० चतुर्युग ४३२×१०^{७} वर्ष कहता है। यही मन्त्र युगो का अनुपात ४:३:२:१ कहता है जिससे कलि ४३२०००, द्वापर ८६४०००, त्रेता १२ ९६०००, सत् युग १७ २८.०० मानव वर्ष होता है। चारों का योग ४३२०००० वर्ष=१ चतुर्युग=१ महायुग कहलाता है। ब्रह्मा का एक अहोरात्र=१ सृष्टिकाल+१ प्रलय काल=२ कल्प होता है। ब्रह्मा की आयु $१०० \times ३६० \times २ = ७२०००$ कल्प होती है। इसे महाकल्प कहते हैं। यही मोक्ष काल परान्तकाल (बृहदारण्यक उपनिषद अनुसार) है।

ज्योतिष में एक सौर अहोरात्र में ३० मुहूर्त की साधारण इकाई है। १लव= $\frac{१}{४८६०००}$ मुहूर्त, १ काष्ठा= $\frac{१}{१०८००००}$ मुहूर्त है।

यजुर्वेद (२७-२) मन्त्र दशमलव प्रणाली में ९,१०,१००,१०००……१० लाख को $१०^{५}$, १० कोड़ को $१०^{८}$, १० पद्म को $१०^{११}$,……१० शंख को $१०^{१८}$ अर्थात् १९ अंकों वाली संख्या देता है।

न्याय दर्शन परमाणु को पदार्थ का छोटे से छोटा कण अदृश्य, अकाट्य, कण कहता है। ६० परमाणु का एक अणु, दो अणु का द्वयणुक जो स्थूल वायु के कण कहलाते हैं। जो दिखाई नही देते परन्तु स्पर्श से ज्ञात होते हैं।

श्री अनन्त शर्मा (ब्यावर) महाभारत में भी इसी प्रकार की सूक्ष्म दीर्घ मापों की चर्चा कहते हैं। वाल्मीकि रामायण में $१०^{५}$ को इकाई मानकर $१०० = १०^{२}$ से शुरू

कर $१०^{७}$, $१०^{१२}$, $१०^{१७}$, $१०^{२२}$,……$१०^{६२}$ महोघ जैसी विशाल दूरियां लिखी हैं।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में अणो अणीयान से महतो महीयान (Micro, macro) संख्याओं के नाम व माप मिलते हैं। विज्ञान, ज्योतिष आदि कहते हैं कि सितारों से आगे जहां और भी है, वेद नेति नेति कहता है।

—प्रोफेसर प्रताप सिंह

१३६ महेली नगर, उदयपुर (राज०) ३१३००१

पुण्य-श्लोक मुनि पुण्यविजयजी की जन्म-शती

हजारीमल बांठिया

वर्तमान शती में जैन साहित्य और जैन पुरातत्त्व के उद्घाटन और प्रकाशन में जैनाचार्य श्री विजयधर्म सूरि (काशी वाले), पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजय और आगम प्रभाकर मुनि पुण्य विजय—इस त्रिमूर्ति ने अथक परिश्रम किया। इन तीनों की जन्म-शती वर्ष बीत चुके हैं और उनके पुण्य प्रताप से जैन साहित्य एवं जैन पुरातत्त्व पर उत्तरोत्तर शोध और प्रकाशन हो रहा है।

इस त्रिमूर्ति में तृतीय—मुनि पुण्यविजय का जन्म वि० सं० १९५२ कार्तिक शुक्ल पंचमी को कपडवंज (गुजरात) में डाह्याभाई दोशी के घर माता माणेक बहिन की कुक्षी से हुआ। आपका जन्म नाम मणिलाल था।

कैसा दुखद पर सुखद संयोग हुआ। पिताजी बम्बई में थे। बालक मणिलाल छह मास का पालने में झूल रहा था—मां नदी पर कपड़ा धोने के लिये गई हुई थी—कपडवंज के मोहल्ला चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन मन्दिर की खडकी में अचानक आग लग गई—डाह्याभाई का मकान भी जल कर भस्मीभूत हो गया—एक अदम्य साहसी व्यक्ति प्रज्ज्वलित लपटों में, घर में घुसकर बालक मणिलाल को उठा लाया—बालक को अभयदान मिला और यही बालक आगे जाकर मुनि पुण्यविजय बना। ज्ञान-पंचमी के दिन जन्म होने से 'ज्ञान' का सागर बना। इस घटना के बाद—यह परिवार बम्बई चला गया—पिता की मृत्यु हो गई—मां ने इस बालक को भगवान् महावीर शासन को समर्पित कर दिया—छाणी (बड़ोदरा) में प्रवर्त्तक मुनि कान्तिविजयजी के के चरणों में समर्पित कर १३ वर्ष की वय में वि० सं० १९६४ माघ वदी ५ (गुजराती) के दिन—गुरु चतुरविजयजी का शिष्य बना दिया और इनका नाम मुनि पुण्यविजय रखा गया और स्वयं भी महावीर-शासन में दीक्षित होकर—साध्वी रतनश्री बन गई।

प्रगुरु मुनिश्री कांतिविजयजी और गुरु मुनिश्री चतुरविजयजी ने बाल मुनि पुण्यविजय को अपूर्व ज्ञान पं० सुखलालजी जैसे विद्वानों से दिलाया—स्वयं ने भी शास्त्रों के सम्पादन में संशोधन में रुचि होने के कारण—बाल मुनि पुण्यविजय की दिशा बदल दी। पाटण में—प्रगुरु ने वृद्धावस्था के कारण १० चातुर्मास किये पाटण के समस्त ज्ञान-भण्डारों का एकीकरण कर हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर की स्थापना की और वहां सम्पादन-संशोधन का कार्य हो सके उसकी समुचित व्यवस्था कराई। डा० भोगीलाल सांडेसरा, श्री जगदीशचन्द्र जैन, विक्टोरिया म्यूजियम के डाइरेक्टर श्री शांतिलाल छगनलाल उपाध्याय जैसे विद्वान आप श्री के ही शिष्य थे

अनेक विदेशी विद्वानों को भी जिनमें डा० बेंडर, डा० आल्सडोर्फ आदि को सम्पादन व संशोधन में मार्ग निदेशन दिया। वि० सं० २०१७ में श्री महावीर जैन विद्यालय में आगम-साहित्य के संशोधन एवं सम्पादन का काम आप श्री के प्रेरणा से शुरू हुआ और कई आगम ग्रन्थ प्रकाशित कराये।

पूण्य श्लोक मुनि पुण्यविजयजी का मुख्य का कार्य जैसलमेर के ज्ञान भण्डारों का जीर्णोद्धार, संशोधन, सम्पादन और व्यवस्था का है। राजस्थान की भयंकर गर्मी में— लू के थपेड़ों में वि० सं० २००६ में डेढ़ वर्ष का प्रवास कर अद्वितीय कार्य किया— वह युगों-युगों तक याद किया जायेगा। मृत प्रायः ताड़पत्रीय—व अन्य हस्तलिखित ग्रन्थों को सन्जीवनी देकर ऐसा भगीरथ कार्य किया कि आगामी सैकड़ों वर्षों तक वे सुरक्षित रह सकेंगे। समूचे ज्ञान भण्डारों को एकत्र कर सूची बनाई। उनके इस जैसलमेर प्रवास मे मैं भी पूज्य मामाजी अगरचन्दजी नाहटा, भाईजी भंवरलालजी नाहटा, प्रो० नरोत्तमदासजी स्वामी, आचार्य बदरीप्रसादजी साकरिया के साथ जैसल-मेर गया था। दस दिन ठहर कर मुनिश्री के कार्य को देखा था। इस महान ज्ञान-यज्ञ की आहूति में सेठ कस्तूर भाई लाल भाई, श्री जैन श्वेताम्बर कान्फरेंस, बम्बई का अपूर्व सहयोग था।

आपश्री समुदाय-गच्छ भेद से ऊपर थे। वि० सं० २००७ में बीकानेर चातुर्मास में खरतरगच्छीय साधु मुनि विनयसागरजी को अपने पास रखकर - उनको विद्वान-आगम ज्ञाता बनाया जो आजकल महोपाध्याय श्री विनयसागरजी के नाम से प्रसिद्ध हैं प्राकृत भारती, अकादमी, जयपुर के निदेशक हैं। आपको पद का किंचित मात्र भी लोभ नही था। वि० सं० २०१० में बम्बई संघ और जैनाचार्य श्री विजयसमुद्रविजय जी ने आपको आचार्यश्री की पदवी लेने का बहुत आग्रह किया, किंतु आपने स्वीकार नहीं किया। फिर भी बड़ौदा संघ ने आपको 'आगम प्रभाकर' पद से सम्मानित किया वि० सं० २०२८ में आचार्यश्री विजय समुद्रसूरिजी ने 'श्रुतशील वारिधि' पद से अलकृत किया।

युगवीर आचार्यश्री विजयवल्लभसूरिजी महाराज साहब की जन्म शताब्दी महोत्सव की सार्थक योजना बनाने के लिये बम्बई संघ की विनती से आपको वि० सं० २०२४ व २०२६ के चातुर्मास बम्बई में ही करने पड़े। शताब्दी महोत्सव सम्पन्न होने के बाद आप श्री की इच्छा अहमदाबाद की तरफ विहार करने की इच्छा थी- किंतु भवितव्यता कुछ और थी—महाराजश्री की यकायक तबीयत बिगड़ गई, बम्बई में ही वि० सं० २०२७ जेठवदी ६ (गुजराती) ता० १४ जून १९७१ ई० सन् में सोमवार को रात्रि के ८.११ बजे स्वर्ग सिधार गये।

आपने अपनी दीक्षा-पर्याय के ६२ चातुर्मास विभिन्न नगरों में विशेषकर गुजरात क्षेत्र में बीताए। राजस्थान में तो सिर्फ जैसलमेर और बीकानेर में दो ही चातुर्मास किये। आपने कुल ७ आगम ग्रन्थों का, ३७ विभिन्न ग्रन्थों का, जिनकी सूची इस प्रकार है संपादन-प्रकाशन किया—

संपादित-प्रकाशित ग्रन्थ

१ मुनि रामचन्द्रकृत — कौमुदी मित्रानन्द नाटक सन् १९१७
२. मुनि रामभद्रकृत—प्रबुद्ध रौहिणेय नाटक सन् १९१८
३. श्री मन्मेघप्रभाचार्य विरचित धर्माभ्युदय [छाया नाटक] वि० सं० २०१८
४. गुरु तत्त्वविनिश्चय वि० सं० २०२४
५. उपाध्याय श्री यशोविजयकृत ऐन्द्रस्तुति चतुर्विंशतिका-१९२८
६. वाचक संघदासगणि विरचित वसुदेव-हिंडि—१९३०-१९३१
७. कर्मग्रन्थ [भाग-१-२] सन् १९३४-४०
८ बृहत्कल्प सूत्र—निर्युक्ति भाष्य वृत्ति युक्त [भाग-१-६] सन् १९३३-३८ तथा १९४२
९. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखनकला सन् १९३४
१०. पूज्यश्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण विरचित जीत कल्पसूत्र स्वोपज्ञ भाष्य सहित सन् १९३८
११. कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य प्रणीत सकलार्हत्स्तोत्र श्री कनककुशल गणि विरचित वृत्ति युक्त सन् १९४२
१२. श्री देवभद्रसूरि कृत कथा रत्नकोश सन् १९४४
१३. श्री उदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदय महाकाव्य सन् १९४९
१४. कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र महाकाव्य [पर्व २, ३, ४] सन् १४१०
१५. जैसलमेर नी चित्र संमृद्धि सन् १९४१
१६. कल्प सूत्र-निर्युक्ति, चूर्णि, टिप्पण, गुर्जर अनुवाद सहित सन् १९४२
१७. अंग विजय सन् १९४६
१८. सोमेश्वर कृत कीर्ति कौमुदी तथा अरिसिंह कृत सुकृत सकीर्तन सन् १९६१
१९. सुकृत कीर्ति कल्लोलिन्यादि वस्तुपाल प्रशस्ति संग्रह सन् १९६१
२०. सोमेश्वरकृत उल्लाघ राघव नाटक सन् १९६१
21. Discriptive catalogue of plam leaf MSS in the Shantinath Bhandar, Combay vol I, II, 1961-1966.
22. Catalogue of Sanskrit and Prakrit MSS of L. D. Institute of Indology, Parts I-IV, 1963-1972.
२३. श्री नेमीचन्द्राचार्यकृत आख्यानक मणिकोश आम्रदेवसूरिकृत वृत्ति सहित सन् १९६२
२४. श्री हरिभद्रसूरिकृत योग शतक स्वोपज्ञ वृत्ति युक्तः तथा ब्रह्म सिद्धान्त समुच्चय १९६४
२५. सोमेश्वरकृत रामशतक १९६६
२६. नन्दी सूत्र—चूर्णि सहित १९६६
२७. नन्दी सूत्र—विविध वृत्ति युक्त १९६६
२८. आचार्य हेमचन्द्र कृत निघण्टु शेष, श्री वल्लभ गणिकृत टीका सहित १९६८

२९. नन्दी सुतं अणुयोगदाराई १९६८

३०. ज्ञानांजलि [महाराज श्री की दीक्षा षष्टि पूर्ति समारोह पर महाराज के लेखों का संग्रह] १९६९

३१. पन्नवणा सुत्त [प्रथम भाग] १९६९

३२. पन्नवणा सुत्त [द्वितीय भाग] १९७१

३३. जैसलमेर ज्ञान भण्डार सूचि पत्र १९७२

३४. पत्तन ज्ञान भण्डार सूचि पत्र भाग-१ १९७३

३५. दसकालीय सुत्त अगस्तयसिंह चूर्णि सहित १९७३

३६. सूत्र कृतांग चूर्णि भाग-१ १९७३

३७. कवि रामचन्द्र नाटक संग्रह

श्री महावीर जैन विद्यालय द्वारा प्रकाशित आगम ग्रन्थ

१. नन्दि सुत्त अणुओगद्दाराइ च

२. पण्णवण्णा सुत्तं भाग-१

३. " " भाग-२

४. दसवैयलिय सुत उत्तरज्झयणाइ आवस्स सुतं च:

५. पइण्णाय सुताइं भाग-१

६. पइण्णाय सुताइं भाग-२

७. पइण्णाय सुताइं भाग-३

समस्त जैन समाज का पुनीत कर्त्तव्य है ऐसे पुण्यश्लोक आगम प्रभाकर मुनि पुण्यविजयजी की जन्म शताब्दी भारत के प्रमुख नगरों—शोध केन्द्रों मे मनायी जानी चाहिये और उनके अप्रकाशित ग्रंथो का प्रकाशन—सशोधन—करना चाहिये, यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जली होगी।

—हजारीमल बांठिया
५२/१६, शक्कर पट्टी
कानपुर-२०८००१

प्रकीर्णक

हम यह तो कह सकते हैं कि श्वेताम्बर आगमों की भाषा अर्धमागधी न होकर महाराष्ट्री प्राकृत है। क्योंकि उसमें अर्धमागधी के लक्षण (अर्थात् मागधीत्व) घटित नहीं होते और दिगम्बरों के आगमों को भी शौरसेनी नहीं कह सकते — इसमें अन्य भाषा के शब्द मिश्रित हैं। और नीर क्षीर का विवेक करने वाले हंसों का अभाव है। या यूं कहें कि यथावत् आचार्य कुन्दकुन्द लिखित ग्रंथों का सर्वथा अभाव है।

जिनागमों की मूल भाषा पर संगोष्ठी

'प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी', 'प्राकृत विद्या मंडल' और 'प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड' नाम की तीन संस्थाओ के संयुक्त तत्त्वावधान में तथा जैनाचार्य श्री सूर्योदय सूरीश्वरजी और श्री शीलचन्द्रसूरिजी की पावन निश्रा में (अहमदाबाद के सेठ हठीसिंह, केसरीसिंह वाडी के भव्य जैन मंदिर के परिसर मे "जैन आगमों की मूल भाषा" संबंधी एक विद्वत् संगोष्ठी दिनांक २७-२८ अप्रैल, १९९७ को आयोजित की गयी।

भगवान् महावीर ने अर्धमागधी भाषा मे अपने धर्मोपदेश दिये थे और उनके आगम ग्रंथ भी मूलत. अर्धमागधी भाषा में ही रचे गये थे यह तथ्य इतिहास और जैन आगमो मे प्राप्त प्रमाणों से स्वत सिद्ध है। भारतीय एव जर्मन विद्वानो की डेढ सौ वर्षों की आधुनिक तरीके की संशोधन पद्धति से भी यह तथ्य सिद्ध हो चुका है और आज तक इस मुद्दे पर किसी प्रकार का विवाद या मतभेद उपस्थित नही हुआ।

अभी अभी दो एक वर्षों से जैन धर्म की एक शाखा दिगम्बर संप्रदाय के कतिपय मुनिवरों और अमुक विद्वानों द्वारा ऐसा मत प्रस्थापित करने का जोरदार प्रयत्न किया जा रहा है कि भगवान महावीर और उनके आगमो की भाषा अर्धमागधी प्राकृत नहीं परन्तु शौरसेनी प्राकृत थी।

इस नये अभिगम और मतभेद का प्रामाणिक मूल्यांकन तथा परीक्षण करना अत्यन्त अनिवार्य बन गया था। इसीलिए इस विद्वत्-संगोष्ठी का आयोजन आचार्यश्री की प्रेरणा से करने में आया।

दो दिन की इस संगोष्ठी में स्थानिक और भारत के विविध स्थलों से आगत विद्वानों के द्वारा १३ शोध-पत्र प्रस्तुत किये गये। इसमें विश्व-विख्यात विद्वान जैसे कि **पं० दलसुखभाई मालवणिया, डॉ० हरिवल्लभ भायाणी, डॉ० मधुसूदन ढांकी, डॉ० सागरमल जैन, डॉ० सत्यरंजन बनर्जी एवं डॉ० रामप्रकाश पोद्दार, डॉ० एन. एम. कंसारा, डॉ० के० रिषभचन्द्र, डॉ० रमणीक शाह, डॉ. भारती शेलत, डॉ. प्रेमसुमन जैन, डॉ. जितेन्द्र शाह, डॉ. दीनानाथ शर्मा** एव **कु. शोभना शाह** ने भाग लिया और इसके सिवाय अन्य चालीसेक विद्वानो ने संगोष्ठी की चर्चा मे सक्रिय भाग लिया। तेरापन्थ की **समणी चिन्मयप्रज्ञा** जी भी इस संगोष्ठी में भाग लेने के लिए लाडनू से खास तौर पर पधारी थीं।

संगोष्ठी की प्रथम बैठक दिनांक २७ को प्रात. सार्वजनिक सभा के रूप में हुई। इस समारोह में अतिथि विशेष के रूप में विख्यात श्वेताम्बर जैन समाज के अग्रणी सेठ श्री श्रेणिक भाई कस्तूर भाई तथा आन्तरराष्ट्रीय पुस्तक प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास (दिल्ली) के श्री नरेन्द्रप्रकाश जैन उपस्थित रहे। इसके अतिरिक्त मुंबई से सेठ श्री प्रताप भाई, भोगीलाल (दिल्ली की बी. एल. आई. आई संस्था वाले) भी उपस्थित

रहे। समारोह का यशस्वी संचालन डॉ० कुमारपाल देसाई ने किया। इस सार्वजनिक समारोह में डॉ. के. आर. चन्द्र के द्वारा दस वर्ष के कठोर परिश्रम से भाषिक दृष्टि से पुनः सम्पादित "आचारांग—प्रथम अध्ययन" का विमोचन (लोकार्पण) पं. श्री दलसुखभाई मालवणिया के कर-कमलों द्वारा किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य पांच ग्रन्थों का विमोचन भी विभिन्न महानुभावो के द्वारा किय गया।

उसी दिन दुपहर को संगोष्ठी की प्रथम बैठक हुई। इसकी अध्यक्षता बहुश्रुत इतिहासविद तथा स्थापत्यविद डॉ० मधुसूदन ढाकी ने की। इस बैठक में चार विद्वानो ने अपने शोध-पत्र प्रस्तुत किये। सगोष्ठो की विशेषता यह थी कि हरेक शोध-पत्र पढ़ने के बाद श्रोता-वर्ग और विद्वानो द्वारा उस पर तात्त्विक तथा मार्मिक चर्चा होती थी, प्रश्नोत्तरी की जाती थी, सबधित वक्ता के द्वारा उसका उत्तर दिया जाता था और अन्त में अध्यक्षश्री उसका मधुर समापन करते थे। उसके बाद ही दूसरा शोध-पत्र पढ़ा जाता था। इस कारण संगोष्ठी का वातावरण रसप्रद, जीवंत और तार्किक बन पड़ा।

दिनाक २८ अप्रैल को दूसरे दिन प्रातः संगोष्ठी की द्वितीय बैठक हुई जिसकी अध्यक्षता सुविख्यात भाषाशास्त्री डॉ० सत्यरजन बनर्जी (कलकत्ता) ने की। इस बैठक मे पाच शोध-पत्र प्रस्तुत किये गये जिसमे डॉ० सागरमल जैन, डॉ० पोद्दार, डॉ० बनर्जी आदि के वक्तव्य विशेष ध्यान आकर्षित करने वाले और मौलिक संशोधन युक्त थे।

उसी दिन की दोपहर की अन्तिम (तीसरी) बैठक की अध्यक्षता डॉ० सागरमल जैन (बनारस) ने की जो जैन विद्या और भारतीय संस्कृति के गहन अभ्यासी हैं। उन्होने इस बैठक का सुन्दर सचालन किया। इस बैठक में इस संगोष्ठी के पुरोधा डॉ. के. आर. चन्द्र सहित चार विद्वानो ने अपने वक्तव्य प्रस्तुत किये।

इस सगोष्ठी मे श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापथ और दिगम्बर मत के विद्वान उपस्थित रहे और जैनेतर विद्वानो की उपस्थिति भी विशेष ध्यान आकर्षित करने वाली थी। अतः यह संगोष्ठी किसी एक पक्ष या संप्रदाय की न होकर व्यापक रूप से विद्वानों की निष्पक्ष संगोष्ठी थी।

प्राकृत भाषा और साहित्य को केन्द्र में रखकर सभी विद्वानों के शोध-प्रबंधों का सार यह था कि—**१. भगवान् महावीर की भाषा अर्धमागधी थी। २. शौरसेनी से अर्धमागधी भाषा प्राचीन है। ३. जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी ही है। ४. शौरसेनी भाषा में आगम साहित्य नहीं है ऐसा नहीं है परन्तु यह अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा परवर्ती काल का है, प्राचीन नहीं है।**

संगोष्ठी के श्रोतागण एवं सक्रिय भाग लेने वालो में विख्यात साहित्यकार प्रा० जयंत कोठारी, सी. वी. रावल, गोवर्धन शर्मा, मलूकचंद शाह, नीतिन देसाई, वी. एम. दोशी, बिनोद मेहता, वसंत भट्ट, विजय पंडया, कनुभाई सेठ, ललित भाई, निरंजना वोरा, जागृति पंडया, गीता मेहता तथा अन्य क्षेत्रों के विद्वानों की उपस्थिति बहुत ही संतोषप्रद रही।

संगोष्ठी का विषय जटिल तथा शुष्क होते हुए भी वातावरण रूखा-सूखा न बन जाय उसके लिए डॉ० मधुसूदन ढांकी और डॉ० एस. आर. बनर्जी जैसे प्रतिभावंत

विद्वानों ने अपने 'सेन्स ऑफ ह्यूमर' से उसे रसप्रद बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया यह एक विरल घटना थी।

संगोष्ठी के समापन के प्रसंग पर आचार्य श्री शीलचन्द्रसूरिजी ने मार्मिक और संवेदनशील शब्दों में कहा कि—

अपन लोग अनेक विवादों को लेकर बैठे हैं, उनसे अभी तक थके नहीं और भाषा के नाम से चली आ रही एकता को नष्ट करने का यह नया विवाद खड़ा किया गया है। यह विवाद किस लिए ? क्या किसी की अस्मिता-गौरव समाप्त करने का हेतु इसके पीछे जुड़ा हुआ है ? किसी का भी यदि ऐसा हेतु होगा तो वह कभी भी सफल नहीं होगा। बात-बात में अनेकान्तवाद की दुहाई देने वाले मित्रों को संबोधन करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि—बंदूक में से गोली छोड़ने वाले को सभी छूट और फिर बचाव करने वाले के लिए अनेकांत का पालन करना अनिवार्य—ऐसे अनेकांत में हमको विश्वास नही है, "मारना भी और न भी मारना" ऐसे 'भी' सिद्धांत को अनेकांत नही कहा जा सकता। वहां पर तो 'न ही मारना" ऐसा ही सिद्धांत स्वीकारना ही पड़ता है। परम्परा से दोनो ही संप्रदाय के प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने जो भाषा स्वीकार कर मान्य रखी है उसका विच्छेदन करना और नयी ही काल्पनिक बात की अनेकांत के नाम से पुष्टि करना—यह किसी भी प्रकार से उपयुक्त नहीं है। विशेष तौर पर उन्होंने यह भी कहा कि कितनेक विद्वान-मित्र "नरो वा कुंजरो वा" के सिद्धांत में मानते हैं। इधर आये तो इधर भी 'हा' और उधर जाये तो उधर भी 'हा', । ऐसी पद्धति उन्हें भले ही विद्वान बनाती हो परन्तु वास्तविक रूप में एकेडेमिक व्यक्ति की कोटि मे उनकी गिनती नहीं हो सकती। उनकी श्रद्धेयता स्वीकारने योग्य नही रहती। ऐसे मित्रो को मेरी सौहार्दपूर्ण सलाह है कि उनको शौरसेनी का पक्ष उचित लगे तो वही पक्ष स्वीकार करना चाहिए परन्तु दुहरी नीति का आश्रय लेने का आग्रह न रखें।

अंत में अध्यक्षश्री के उपसंहार के साथ संगोष्ठी का समापन सुखद और संवादी वातावरण में पूरा हुआ।

इस संगोष्ठी के आयोजन में डॉ. के० आर० चन्द्र और डॉ० जितेन्द्र बी. शाह ने महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया। दोनों दिन भोजन की व्यवस्था का प्रबंध श्री वक्तावरमलजी बालर, बंसराजजी भंसाली और नारायणचंदजी मेहता ने किया था और निवासादि का प्रबंध सेठ हठीसिंह केसरीसिंह वाडी के ट्रस्ट ने किया था।

—संगोष्ठी संयोजक

रंजित अनुकथन है। यदि यह साहित्य नाना शलाका पुरुषों के उदात्त जीवन चरित से सम्पन्न है तो सामान्य वणिक् पुत्रों के दुःख सुख की कहानी से भी परिपूर्ण है। तीर्थंकरों की भावोच्छ्वासित स्तुतियों, अनुभव भरी सूक्तियों, रहस्यमयी अनुभूतियों, वैभव-विलास की झांकियों आदि के साथ ही उन्मुक्त वन्य जीवन की शौर्य स्नेह सिक्त गाथाओं के विविध चित्रों से अपभ्रंश साहित्य की विशाल चित्रशाला सुशोभित है। स्वयंभू जैसे महाकवि के हाथों से इसका बीजारोपण हुआ। पुष्पदन्त, धनपाल, हरिभद्र, जोइन्दु, रामसिंह, देवसेन, कनकामर, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, जिनप्रभ, जिनदत्त, जिनपद्म, विनयचन्द्र, राजशेखर, शालिभद्र, अब्दुल रहमान, सरह और काण्ह जैसी प्रतिभाओं ने इसे प्रतिष्ठित किया और रइधू जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले महाकवियों का इसे सम्बल प्राप्त हुआ।[५]

जैनाचार्यों ने अपभ्रंश साहित्य का प्रणयन किया है। इसका कार्यक्षेत्र पश्चिमी भारत, विदर्भ, गुजरात, राजस्थान तथा दक्षिण-भारत के प्रदेश रहे हैं। विद्वानों के कथनानुसार श्रावकों के अनुरोध पर जैन आचार्यों ने अपभ्रंश में रचना की। ये श्रावक देशी भाषा से ही परिचित थे। अतः जैन अपभ्रंश साहित्य में जहां स्थान वैभिन्न्य के संकेत मिलते हैं, वहां विषय और काव्य रूपों में भी विविधता दर्शनीय है। जैनाचार्य द्वारा लिखे गये साहित्य मे महापुराण, पुराण, चरितकाव्य, कथाग्रथ, रासग्रन्थ, उपदेशात्मक ग्रन्थ स्तोत्र आदि विविध विषयात्मक ग्रंथ प्राप्य हैं। महापुराणों में पुष्पदन्त का "तिसट्ठि महापुरिस" पुराण, चरित काव्यों में स्वयंभू के 'पउमचरिउ' रिट्ठनेमि चरिउ, पुष्पदन्त के णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, मुनिकनकामर का करकंड चरिउ आदि उल्लेखनीय है। कथा ग्रन्थों में भविसयत्तकहा (धनपाल) (छक्कभोकएस) (षट्कर्मोपदेश) (अमरकीर्ति) षजजुण्ड कहा आदि विशेष महत्त्व के हैं। रासो ग्रन्थों में उपदेश रसायन (जिनदत्तसूरि) नेमिरास (जिनप्रभ) बाहुबलिरास, जम्बूस्वामी रास आदि का नाम लिया जा सकता है।

स्तोत्र ग्रन्थों में अभयदेवसूरि के जयतिहुयणस्तोत्र, ऋषभजिनस्तोत्र आदि एवं उपदेशात्मक ग्रन्थों में योगीन्द्र के परमात्म प्रकाश, योगसार मुनिरामसिंह का पाहुड़दोहा, सुप्रभाचार्य का वैराग्यसार, माहेश्वरसूरि की संयममजरी आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

रामकथा सम्बन्धी अपभ्रंश साहित्य

प्राकृत एवं सस्कृत भाषा के समान ही जैन विद्वानो ने अपभ्रंश भाषा में भी रामकथा का गुम्फन किया है। आश्चर्य तो यह है कि अपभ्रंश भाषा में जितने भी रामकथा विषयक ग्रथ उपलब्ध हुए हैं वे सब जैनमतावलम्बी कवियों द्वारा प्रणीत हैं। तीन दशक पूर्व जो अपभ्रश भाषा मे लिखे गये रामकथात्मक ग्रन्थ जैन भण्डारों में पड़े हुए थे वे जिज्ञासु अध्येताओं के श्लाघ्य प्रयत्नो से सम्प्रति प्रकाश में आये हैं। अपभ्रंश में रामकथा सम्बन्धी तीन ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से दो स्वयंभूदेव-कृत पउमचरिउ अथवा रामपुराण (८वीं शती ई०) एवं रइधूरचित पद्मपुराण अथवा बलभद्र पुराण (१५वीं शती ई०) विमलसूरि की परम्परा के अन्तर्गत आते हैं और

अपभ्रंश भाषा में लिखा साहित्य

☐ नीलम जैन

अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के गौरवशाली पद पर छठी शताब्दी में आसीन हुई। इससे पूर्व भरत के नाट्यशास्त्र में विमलसूरि के **पउमचरिय** और पादलिप्तसूरि के **तरंगवइकहा** में अपभ्रंश के शब्दों का कथंचित् व्यवहार पाया जाता हैं।[1] ऐसा प्रतीत होता हैं कि अपभ्रंश में प्रथमशती से रचनाएं होती रही हैं। किंतु महत्त्वपूर्ण साहित्य ८वी शती मे १३-१४वीं शती तक रचा गया। इसी कारण डा० हरिवंश कोछड़ ने अपभ्रंश के ९वीं से १३वीं शती तक के युग को समृद्ध युग एवं डा० राजनारयण पांडेय ने "स्वर्णयुग" माना है।[2] अपभ्रंश की एक अन्तिम रचना है भगवती दास रचित "मृगांक लेखावरिउ (१६वीं शती)।

अपभ्रंश साहित्य की समृद्धि का प्रमुख स्रोत जैन आचार्यों के द्वारा रची गई कृतिया ही हैं। इसका ज्ञान पिछले दो तीन दशकों में श्री चमनलाल डाह्याभाई दलाल, मुनि जिनविजय, प्रो० हीरालाल जैन, डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य, डा० ए० एन० उपाध्याये, म. प्र. हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वानों के अथक परिश्रम स्वरूप प्राप्त हुआ। अपभ्रंश भाषा के अध्ययन की समस्या एव धार्मिक परम्परा के फलस्वरूप इस भाषा का साहित्य जैन भण्डारों में छिपा पड़ा रहा।

संभवत: इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में जैन अपभ्रंश साहित्य को उपदेश मात्र मानकर विशेष महत्त्व नही दिया।[3] आ० द्विवेदी ने इसका तर्कपूर्ण खण्डन करके इसमें सुन्दर काव्यरूप की उपलब्धि होने से इसे स्वीकार किया है—"जैन अपभ्रंश चरित्र काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है। वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय की मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त, धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य क्षेत्र से बाहर नही चले जाते। .. .. "यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का 'रामचरित मानस' भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का 'पद्मावत' भी साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुसेगा।[4]

अपभ्रंश साहित्य की विपुलता का ज्ञान डा० नामवरसिंह के इस कथन से पुष्ट होता है "यदि एक ओर इसमे जैन मुनियों के चिंतन का चिंतामणि है तो दूसरी ओर बौद्ध सिद्धों की सहज साधना की सिद्धि भी है। यदि एक ओर धार्मिक आदर्शों का व्याख्यान है तो दूसरी ओर लोकजीवन से उत्पन्न होने वाले ऐहिक-रस का राग

एक पुष्पदन्त विरचित महापुराण (१०वीं शती ई०) गुणभद्र परम्परा में परि-गणित किया जाता है।

स्वयंभू अपभ्रश के आदिकवि हैं। इनकी तीन रचनायें पउमचरिय, रिट्ठनेमि चरिउ और स्वयंभूछन्द उपलब्ध होती हैं।[6] इनका पउमचरिउ अपभ्रंश का रामकथा विषयक प्रथम विशालकाय महाकाव्य है। यह जैन रामायण है। इसमें ९० सधियां, १२६९ कड़वक तथा १२००० श्लोक हैं। यह पाच कांडों — विद्याधर कांड, अयोध्या कांड, सुन्दरकांड, युद्धकाड और उत्तरकांड मे विभक्त हैं। स्वयंभू के पउमचरिउ की रचना प्रौढ़ व प्राजल है। इतनी सर्वगुण सम्पन्न काव्य रचना भाषा की प्रारम्भिक स्थिति में सम्भव नहीं है। अत. ऐसा ज्ञात होता है कि स्वयभू से पूर्व अपभ्रंश काव्य-परम्परा उन्नत थी। स्वयंभू जन भाषा के कवि थे, इसी से उन्होने अपनी भाषा को देशीभाषा कहा है।

स्वयंभू के बाद अपभ्रंश के द्वितीय महाकवि पुष्पदन्त हैं। इनकी "तिसदिट्ठ महापुरिस गुणालकार, "णायकुमार चरिउ" एवं "जसहर चरिउ" तीन कृतियां प्राप्त होती हैं। तिसदिट्ठमहापुरिस नामक रचना रामकथा से सम्बन्धित है। इस पौराणिक महाकाव्य में ६३ शलाका पुरुषो का वर्णन है, इसके द्वितीय भाग उत्तरपुराण में ६९ से ७९ सन्धियों मे रामकथा वर्णित है, द्वितीय रचना का उद्देश्य पंचमी उपवास का फल बतलाया है। जसहर चरिउ (यशोधर चरित) कवि की अन्तिम रचना है।[7] इसकी कथा अत्यन्त लोकप्रिय है, कवि के एक अन्य कोश ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है पर यह रचना अनुपलब्ध है।

अपभ्रंश मे सर्वाधिक रचना करने वाले कवि रइधू हैं इनके २५ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। पउमपुराण (१५वी शती० ई०) अपभ्रंश भाषा में जैन रामकथा परम्परा को आगे बढ़ाने वाला अन्तिम ग्रंथ है। यह ग्रंथ अप्रकाशित है, जिसकी हस्तलिखित प्रतियां आमेर शास्त्र भण्डार में सुरक्षित हैं। इसमें रामकथा का सामान्य कथन है। इनकी अन्य कृतियां सुकौशल चरित, आत्म सम्बोध काव्य, धनकुमार चरित्र, मेघेश्वरचरित्र, श्रीपालचरित्र, सन्मतिजिन चरित्र आदि हैं। इनकी भी हस्तलिखित कृतियां आमेर भण्डार में उपलब्ध हैं। ●

सन्दर्भ

१. त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नात्ययोगे समासतः
समान-शब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च । नाट्‌ शास्त्र १७।२।३
देसी भाषा उभय तडुज्जल । कवि दुक्कर घन-सद्द मिलायल ।। १ २।४
पउण चरिउ, पालित एव रइया तित्थरओ तह व देसिवयणेहि
णायेण तरगवइ कथा विचित्ता य विडला य ।। पादलिप्तः तरगवती कथा: हिंदी
साहित्य का बृहत्‌ इतिहास - प्रथम भाग स० राजबली पाण्डेय पृ० ३१५
२. अपभ्रंश साहित्य- डा० हरिवश कोछड पृ० ३४ : महाकवि पुष्पदन्त
डा० राजनारायण पाण्डेय पृ० १८
३. हिंदी साहित्य का इतिहास—आ० रामचन्द्र शुक्ल भूमिका पृ० ३
४. हिंदी साहित्य का आदिकाल—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ११
५. डा० नामवरसिंह हिंदी के विकास मे अपभ्रश का योगदान पृ० १७५-१७६
६. पउमचरिउ भाग-१ -- भूमिका (सम्पादक भायाणी) पृ० १६
७ हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-- डा० रामकुमार वर्मा पृ० ११३
८. महाकवि पुष्पदन्त : डा० राजनारायण पाण्डय पृ० ९९
९ अपभ्रश साहित्य - डा० हरिवश कोछड पृ० ११६

डा० नीलम जैन
C/o श्री यू० के० जैन
सैण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया
कोर्ट रोड
सहारनपुर-२४७००१

मंत्रविद्या और उसके प्रकार

मुनि विमलकुमार

प्राचीन काल मे मंत्र विशेष के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाली शक्ति को विद्या कहते थे और साधना के द्वारा उस शक्ति को प्राप्त करने वाले साधक को विद्या सिद्ध।

मुनि विमलकुमार ने सूत्रकृताग सूत्र की चूर्णि और वृत्ति तथा व्यवहार भाष्य से ऐसी कतिपय विद्याओ की जानकारी सग्रह की है जो यहा प्रकाशित की जा रही है।

संपादक

आवश्यक निर्युक्ति में निम्नलिखित आठ व्यक्ति प्रवचन प्रभावक माने गये हैं--- १. प्रावचनी २ धर्मकथी ३. वादी ४. नैमित्तिक ५. तपस्वी ६. विद्यावान् ७. सिद्ध ८. कवि।[1]

इनमें एक है विद्यावान्। विद्या का अर्थ है—मंत्र-विशेष के अनुष्ठान से होने वाली शक्ति।[2] विद्या को साधा जाता है। जो नानाविध विद्याओं से युक्त होता है वह विद्या-वान् कहा जाता है। आवश्यक निर्युक्ति मे पन्द्रह प्रकार के सिद्धों का वर्णन मिलता है जिनमें एक है विद्यासिद्ध। जो किसी एक महाविद्या को साध लेता है वह विद्यासिद्ध कहलाता है।[3]

सूत्रकृतांग में वर्णित विद्या

सूत्रकृतांग सूत्र की चूर्णि तथा वृत्ति में अनेक विद्याओं का वर्णन मिलता है। यथा---

१. सुभगाकर २. दुर्भगाकर ३. गर्भाकार ४. मोहनकर ५. आर्थवणी ६. पाकशासनी ७. द्रव्यहोम ८. वैताली ९. अर्द्धवैताली १०. अवस्वापिनी ११. तालोद्घाटिनी १२. श्वपाकी १३. शाबरी १४. द्राविडी-द्रामिली १५. कालिंगी १६. गौरी १७. गाधारी १८. अवपतनी १९ उत्पतनी २०. जृम्भणी २१. स्तम्भनी २२. श्लेषणी २३. आमयकरणी २४. विशल्यकरणी २५. प्रकामणी २६. अन्तर्धानी २७. कंपनी।

चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने इन विद्याओं में कुछेक के विषय में स्वल्प जानकारी दी है तथा कईयों का नामोल्लेख मात्र किया है। आचार्य महाप्रज्ञ ने 'सूयगडो' सटिप्पण भाग-२ (जैन विश्व भारती-संस्करण) में इनका विस्तार से वर्णन किया है। यहां उसे संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. सुभगाकर—जिससे दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदला जा सके वह सुभगाकर विद्या है।[4]

२. **दुर्भगाकर**—जिससे सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदला जा सके वह दुर्भगाकर विद्या है।[५]

३. **गर्भाकार**--जिससे संतानोत्पत्ति की जा सके। यह कृत्रिम गर्भाधान की विद्या है।[६]

४. **मोहनकर**—जिससे व्यक्ति को सम्मोहित किया जा सके वह मोहनकर विद्या है।[७]

५. **आथर्वणी**—अथर्ववेद संबंधित विद्या।[८]

६. **पाकशासनी**—इंद्र से संबंधित विद्या—इन्द्रजाल।[९]

७. **द्रव्यहोम**—कणेर के फूलों या मधु, घृत, चावल आदि द्रव्यों के द्वारा हवन-पूर्वक संपादित की जाने वाली उच्चाटन आदि विद्या।[१०]

८. **वेताली**—यह वेताल को सिद्ध करने पर होने वाली विद्या है। इसके अक्षर निश्चित होते हैं। कुछेक जाप करने पर यह सिद्ध हो जाती है। इसके द्वारा दंड उठकर इष्ट दिशा में चला जाता है।[११]

९. **अर्द्धवेताली**—वेताली द्वारा उत्थापित दंड को उपशमन करने वाली विद्या। चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—पहले कोई समस्या दी जाती है। फिर उसका उत्तर पूछा जाता है। इस विद्या का अधिष्ठता शुभाशुभ बताता है।[१२]

१०. **अवस्वापिनी**—जिस विद्या से जागृत व्यक्ति को सुलाया जा सके वह अवस्वापिनी है।

११. **तालोद्घाटिनी**—जिस विद्या से कपाट या तालों को खोला जा सके वह तालोद्घाटिनी है।[१३]

१२. **श्वपाकी**—मातंगी विद्या। मातंग ऋषि द्वारा आविष्कृत विद्या का नाम है मातंगी विद्या। इस विद्या का प्रयोग ग्रहावेश—निवारण के लिए होता था।[१४]

१३. **शाबरी**—शबर जाति की या शबर भाषा में निबद्ध विद्या।[१५]

१४. **द्राविडी-तामिली**—द्राविडी भाषा में निबद्ध विद्या। तमिल, तेलगु और कन्नड ये तीन द्राविडी भाषाएं हैं।[१६]

१५. **कालिंगी**—कलिंग देश की भाषा में निबद्ध विद्या।[१७]

१६.-१७. **गौरी गान्धारी**—मातंगी विद्या। निशीथ चूर्णि के अनुसार ये दोनो मातंग विद्याएं हैं। इन विद्याओं की साधना को लोक-गर्हित माना जाता था। ये इतनी कुत्सित होती थी कि दूसरों को बताने में लज्जा का अनुभव होता था। वे इच्छित काम पूरा करने में समर्थ होती थी किंतु कार्य की संपन्नता के बाद इनसे छुटकारा पाना सहज नहीं था।[१८]

१८. **अवपतनी**—इस विद्या से अभिमन्त्रित होकर व्यक्ति स्वयं नीचे आ जाता है या दूसरों को नीचे उतार देता है।[१९]

१९. **उत्पतनी**—इस विद्या के द्वारा व्यक्ति स्वयं ऊपर उठ जाता है और दूसरों को ऊपर उठा देता है।[२०]

२०. जृम्भणी—इस विद्या के प्रयोग से सभी उपस्थित उबासी लेने लग जाते हैं।[21]

२१. स्तम्भनी—इस विद्या के प्रयोग से व्यक्ति स्तम्भित हो जाता है, हिल डुल नहीं सकता।[22]

२२. श्लेषणी—इस विद्या के प्रयोग से व्यक्ति जिस आसन पर बैठता है उस आसन से उसकी जंघा को (उरु को) चिपका दिया जाता है।[23]

२३. आमयकरणी—रोग उत्पन्न करने वाली विद्या। इस विद्या के प्रयोग से सामने वाला व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाता है अथवा सम्पूर्ण ग्राम या राष्ट्र रोगग्रस्त हो जाता है।[24]

२४. विशल्यकरणी—शल्य-रहित करने वाली विद्या। जो शल्य अंग में प्रविष्ट हो जाता है वह रक्त का अवरोध पैदा करता है। उससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। उस शल्य को विद्या के जाप से बाहर निकाला जाता है और औषधि के द्वारा भी निकला जा सकता है।[25]

२५. प्रकामणी—भूत, पिशाच, डाकिन आदि को दूर करने वाली विद्या।

२६. अन्तर्धानी—अदृश्य होने वाली विद्या या अदृश्य होने की गुटिका, अजन आदि।[26] ये गुटिकायें दो प्रकार की होती हैं। एक गुटिका मुंह में रखने से आदमी धीरे-धीरे कुछ ही क्षणों मे अदृश्य हो जाता है पर उसकी परछाई दिखती है। दूसरे प्रकार की गुटिका से परछाई नही दिखती।

२७. कम्पनी विद्या—इस विद्या से गृह, वृक्ष और व्यक्ति को कम्पित किया जा सकता है।[27]

व्यवहार भाष्य में वर्णित—

व्यवहार भाष्य में कुछ विद्याओं का वर्णन मिलता है। जैसे—आदर्श (दर्पण) विद्या, आन्तपुरिकी विद्या, चापेटी विद्या, तालवृन्त विद्या, दर्भविद्या, दूतविद्या, व्यजन विद्या, तालोदघाटिनी आदि।[28]

आदर्श विद्या—जिस विद्या से दर्पण की भांति रोग स्पष्ट जानकर रोगी को स्वस्थ किया जाता है वह आदर्श विद्या है।[29]

आन्तपुरिकी विद्या—जिस विद्या से रोगी का नाम लेकर अपने अङ्ग का अपमार्जन कर रोगी को स्वस्थ किया जाता है वह अन्तः पुरिकी विद्या है।[30]

चपेटी विद्या—रोगो को स्वस्थ करने के लिए जिस विद्या से दूसरों को चपेटा मारा जाता है वह चपेटी विद्या है।[31]

तालवृन्त विद्या—जिस विद्या से तालवृन्त आमन्त्रित कर रोगों को अपमार्जित कर रोगी को स्वस्थ किया जाता है।[32]

दर्भ विद्या—जिस विद्या से दर्भ (मूंज) को अभिमन्त्रित कर रोगी का अपमार्जन कर रोग को नष्ट किया जाता है वह दर्भ विद्या है।[33]

दूतविद्या—जिस विद्या से आये हुए के दंश-स्थान का अपमार्जन किया जाता है। उससे दूसरे का दंश स्थान शांत हो जाता है।[34]

व्यजन विद्या—जिस विद्या से व्यजन (पंखी) आदि को अभिमन्त्रित कर रोगी का अपमार्जन कर उसे स्वस्थ किया जाता है वह व्यजन विद्या है।[15]

वस्त्र विद्या—जिस विद्या से वस्त्र को अभिमन्त्रित कर रोगी का अपमार्जन कर उसे स्वस्थ किया जाता है वह वस्त्र विद्या है।[16]

विद्या सिद्ध करने के लिए समय का भी बडा महत्त्व है। समय का ध्यान नहीं रखने से अधिष्ठाता देव कुपित हो सकता है और साधक को नुकसान पहुंचा सकता है।[17]

इसलिए इन विद्याओं की साधना एकाकी और बिना उपयुक्त मार्ग दर्शन के नहीं करनी चाहिए।

संदर्भ

१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा—

पावयणी धम्मकही, वादी नेमित्तिओ तवस्सी य ।
विज्जा सिद्धा कवी, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥

२. सूयगडो, वृत्ति पत्र ६०—मन्त्रविशेषरूपा विद्याः ।

३. आवश्यक निर्युक्ति—गाथा—९२७

विज्जाण चक्कवट्टी विज्जासिद्धो स जस्स वेगा वि ।
सिज्झिज्ज महाविज्जा, महाविज्जोऽज्ज खउडुव्व ।।

४. सूयगडो, वृत्ति पत्र ६०—दुर्भगमपि सुभगमाकरोति सुभगाकरम ।

५. ,, ,, ,, —सुभगमपि दुर्भगमाकरोति दुर्भगाकराम् ।

६. ,, ,, ,, —गर्भकरां-गर्भाधानविधायिनीम् ।

७. ,, ,, ,, —मोहो-व्यामहो वेदोदयो वा तत्करणशीलाम् ।

८. ,, ,, ,, —आथर्वणीमाथर्वणाभिधानां सद्योऽनर्थकरणी विद्यामभिधीयते ।

९. ,, ,, ,, —पाकशासनीम्-इन्द्रजालसंज्ञिकाम् ।

१०. ,, ,, ,, —नानाविधैर्द्रव्यैः—कणवीर पुष्पादिभिर्मधुघृतादिभिर्वोच्चाटनादिकैः कार्ये होमो हवनं यस्य सा द्रव्यहवना ।

११. (क) सूयगडो, वृत्ति पत्र ६० वैताली नाम विद्या नियताक्षर प्रतिबद्धा, सा च किल कतिभि र्जपैर्दण्डमुत्थापयति ।

(ख) सूयगडो चूर्णि, पृ० ३५५—पुण्णो विज्जाओ वेताली दडो उट्ठेति दिसाकालादिसिट्ठो ।

१२. (क) सूयगडो, वृत्ति पत्र ६०—तथार्धवैताली तमेवोपशमयति ।

(ख) ,, चूर्णि, पृ० ३५५ अद्धवेताली य वेड्ठनो जाति, पच्छापुच्छिज्जति, सुभासुभं तोलेति ।

१३. सूयगडो चूर्णि, पृ० ५३५—कवाडं मंतेण विहाडेति जहा पभवो ।

१४. ,, ,, ,, —सोवाई मायगी विज्जा ।

१५. ,, ,, ,, —सवेरिसबराणं सबरभासाए वा ।

१६. ,, ,, ,, —दामिली दामिलभासाए ।

१७. (क) सूयगडो चूर्णि, पृ० ३५५—कालिगी गोरी गंधारी कंठोक्ता ।

१८. (क) निशीथ भाष्य, गाथा ५११८ - गौरी-गंधारीया दुहविण्णप्प य दुहमोया ।

(ख) निशीथ चूर्णि --गोरी-गंधारीओ मातंगविज्जाओ साहणकाले लोगगरहियत्तणतो दुहविण्णवणाओ जहिट्ठकामसंपायत्तणओ य दुहमोया ।

१९. (क) सूयगडो, वृत्ति, पत्र ६० —अवपतनी तु जपन् स्वत एव पतत्यन्यं वा पातयत्येव ।

(ख) सूयगडो चूर्णि, पृ० ३५५ —जाए अभिमंतितो णिवडति सयं अण्णं वा णिवडावेति सा णिवडणी ।

२०. सूयगडो, चूर्णि पृ० ३५५ —जाए उप्पतति सयं अण्णं वा उप्पतावेति सा उप्पादणी ।

२१. ,, ,, ,, —सा जंभणी जाए जंभिज्जति ।

२२. ,, ,, ,, —सा थंभणी जहा वइराडेण अज्जुणेण कोरवा थंभिता ।

२३. ,, ,, ,, —जाए जंघाओ उरूणा य लेसिज्जंति आसणे वा — तत्थेवा लाइज्जंति सा लेसणी ।

२४. ,, ,, ,, —आमय णाम वाधी, जरमादी ग्रहो वा लाएति आमयकरणी ।

२५ ,, ,, ,, - सल्लं पविट्ठं णीहरावेति सा पुण विज्जा ओसधी वा ।

२६. ,, ,, ,, —अदिस्सो जाए भवति सा अन्तद्धाणी अंजणं वा एवमादि ।

२७. ,, ,, ,, —जीते कम्पति जाए कम्पावेति पासाद रूक्खं पुरिसं वा ।

२८. व्यवहार भाष्य, गा० २४३९—

भूती अद्दाए वा, वत्थे अंतउरे य दब्भे वा ।
वियणे य तालबटे, चवडे ओमज्जणा जतणा ।।

२९. व्यवहार भाष्य, गाथा २४३८ टी० पत्र २६—अद्दाए त्ति या आदर्श विद्या तया आतुर आदर्शे प्रतिबिम्बितोऽपमार्जते प्रगुणो जायते ।

३०. व्यवहार भाष्य, गाथा २४३९ टी पत्र २६—अन्तः पुरे आतःपुरिकी विद्या भवति यया आतुरस्य नाम गृहीत्वा आत्मनोऽङ्गमपमार्जयति आतुरश्च प्रगुणो जायते सा आन्तः पुरिकी ।

३१. व्यवहार भाष्य, गाथा २४३९ टी० पत्र २६—यया अन्यस्य चपेटायां दीयमानायामतुरः स्वस्थोभवति ।

३२. ,, ,, ,, ,, २७—तालवृन्तविषया विद्या। यया ताल-
वृंत मभिमंत्र्य तेनातुरोऽपमृज्यमान:
स्वस्थो भवति सा तालवृन्त
विद्या।

३३. व्यवहार भाष्य, गाथा २४३९ टी० पत्र २७—या दर्भे दर्भविषया भवति विद्या,
यया दर्भैरपमृज्यमान: आतुर: प्रगुणो
भवति।

३४. व्यवहार भाष्य, गाथा २४३९ टी० पत्र २७—तया च दूतविषया यो दूत
आगच्छति, तस्य दंशस्थानमपमा-
र्ज्यते। तेनेतरस्य दंशस्थानमुप-
शाम्यति।

३५. व्यवहार भाष्य, गाथा २४३९ टी० पत्र २७—व्यजन विषया विद्या यया व्यजन-
मभिमंत्र्य तेनातुरोऽपमृज्यमान:
स्वस्थो भवति, सा व्यजन विद्या।

३६. व्यवहार भाष्य, गाथा २४३९ टी० पत्र २६—या विद्या वस्त्र विषया भवति तया
परिजपितेन वस्त्रेण वा प्रमृज्यमान:
आतुर: प्रगुणो भवति।

३७. व्यवहार भाष्य गाथा ३०१८—

कालादि उवयारेणं, विज्जा न सिज्झइ विणादेति।
रंधे व अवद्धंसं, सा वा अण्णा व सा तहि॥

—मुनि विमलकुमार

अहिंसक संस्कृति का प्रसार करें

ऐलक रयण सागर

भारत की मूल संस्कृति अहिंसा है। सभी धर्मों मे अहिंसा को प्रधानता मिली है। महावीर ने जिसे अहिंसा धर्म कहा, वह मात्र जैनों का धर्म नहीं सभी का धर्म है। ईसा ने प्रेम कहा, बुद्ध ने दया कहा, कृष्ण ने करुणा कहा और इस्लाम ने रहम कहा। दया कहो या करुणा, प्रेम कहो या रहम—ये सभी अहिंसा के ही प्रतिरूप हैं।

इस अहिंसा-संस्कृति के अन्तर्भूत अहिंसा और सत्याग्रह के बलबूते पर महात्मा गांधी राष्ट्रपिता के रूप में पूजे गये। इसी तरह महावीर, बुद्ध, कृष्ण, ईसा व पैगम्बर श्री भगवान, अवतार या मसीहा के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

अहिंसा की महिमा अपार है। अहिंसा की शक्ति अपार है। जो इसे समझ पाये उसका बेड़ा पार है और जो इसे न समझे उसका बेड़ा मझधार में रहता है। खुशी है हमें कि हमने ऐसी उत्कृष्ट नैतिक संस्कृति के क्षेत्र में जन्म लिया है। लेकिन धिक्कार है हमें कि हम ऐसी उन्नत संस्कृति पाकर भी उन्नति नहीं हो पा रहे हैं।

भारत अपनी आदर्श अहिंसा-संस्कृति के कारण गौरवान्वित है। भारतीय नेताओं को चाहिये था कि वे अपनी भारतीय संस्कृति के आदर्शों का प्रचार-प्रसार कर भारत का नाम रोशन करें और ऐसा कोई काम न करें जिससे देश की प्रतिष्ठा घटे। हमारी अहिंसक संस्कृति का अपमान हो। हमारी गौरव-गरिमा पर कोई आंच आए।

आज हमारे देश के प्रमुख नेताओं को चाहिये कि वे हिंसा के विरोध में अपनी आवाज बुलंद करें तो मेरा विश्वास है कि वे भी देश में राम, कृष्ण, महावीर व बुद्ध की तरह प्रतिष्ठा को प्राप्त होंगे। पूजे जायेंगे।

खेद की बात है कि हमारे देश के प्रमुख नेता हिंसा बढ़ाने में भागीदार हो रहे हैं। भारत से मांस का निर्यात हो—यह विचार मात्र भी हमारे लिए पीड़ा और कष्ट देने वाला है जबकि आज शासन की ओर से ऐसे निर्यात को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। हमारे नेता प्रतिष्ठा तो राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध की तरह चाहते हैं किन्तु उनका चरित्र निम्न से निम्नतर हो रहा है।

अब वह समय शीघ्र ही आने वाला है जबकि हिंसा के विरोध में राष्ट्र व्यापी जबरदस्त आन्दोलन किये जायेंगे और बूचड़खाने खुलवाने तथा भारत से विदेशों को मांस-निर्यात का जबरदस्त विरोध किया जायेगा। क्योंकि दीन और मूक पशुओं की दुःखभरी आह से जो ज्वाला फूटेगी वह सब कुछ भस्म कर देगी।

—ऐलक रयण सागर

संघस्थ—आचार्यश्री विद्यासागरजी

'तुलसी प्रज्ञा' के दो समीक्षण

(१)

'जैन धर्म एवं दर्शन से सम्बद्ध देश एवं विदेशों में मासिक, त्रैमासिक, षाण्मासिक एवं वार्षिक लगभग २०० पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं किन्तु शोध प्रविधि की ओर उन्मुख बहुत कम ही पत्रिकाएं दृष्टिगोचर होती हैं। जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं से प्रकाशित "**तुलसी प्रज्ञा**" अनुसन्धान के क्षेत्र मे सर्वोत्तम पत्रिका है जिसमें प्राच्य विद्या की विविध विधाओं को लेकर भारतीय एवं वैदेशिक विद्वानों के अमूल्य खोजपूर्ण आलेख प्रकाशित होते हैं जो शोधार्थियों के लिए ही नहीं, भारतीय विद्या में निष्णात प्रौढ़ विद्वानों के लिए भी अत्यन्त उपादेय हैं। शिक्षा के क्षेत्र में ऐसे सत्प्रयासों का अभिनन्दन किया जाना चाहिए।'

—डॉ० धर्मचन्द्र जैन
संपादक, 'प्राची ज्योति'
(डाइजेण्ट ऑव इण्डोलोजिकल
स्टडीज)
एवं
अध्यक्ष, प्राच्य विद्या विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र

(२)

'जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं अणुव्रत-अनुशास्ता श्री तुलसी द्वारा स्थापित-संचालित एक सुदृढ़, स्तरीय और शोधशील शैक्षणिक संस्था है। पर्यावरण, जीवन-विज्ञान, सदाचरण और आत्मिक उत्थान जैसे सामयिक विषयों से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान धर्म, ध्यान और अणुव्रत के माध्यम से खोजने में जैन विश्वभारती संस्थान सराहनीय और अनुकरणीय भूमिका निभा रहा है। इस कार्य के दो सशक्त माध्यम हैं—एक है कक्ष में शिक्षण-प्रशिक्षण और दूसरा है अनुसंधान त्रैमासिकी पत्रिका 'तुलसी प्रज्ञा' का प्रकाशन जिसे विद्वतापूर्ण सम्पादकीय-सम्बोधनों तथा साहित्य, संस्कृति, धर्म, पुरातत्त्व आदि के साथ-साथ जीवन के विभिन्न सामयिक सरोकारों से सम्बन्धित रचनाओं ने एक उच्चस्तरीय शोध-पत्रिका के रूप में प्रतिष्ठित किया है। और इसका श्रेय निश्चित रूप से डा० परमेश्वर सोलंकी के सुचारू सम्पादन को जाता है।'

'इस तथ्य की पुष्टि प्रस्तुत अंक से भी होती है। इसमें हिन्दी में १७ और अंग्रेजी में ६ लेख तथा ८ पुस्तक-पत्रिका-समीक्षाएं हैं। यों तो सभी लेख अपने-अपने विषय की स्तरीय सामग्री से संयोजित हैं तथापि कुछ विशिष्ट कहे जा सकते हैं यथा—'जैन धर्म एवं पर्यावरण', 'अनेकान्तवाद की सार्वभौमिकता', वनस्पतियों में जीवेन्द्रिय संज्ञान', 'कर्पूरमंजरी का सौन्दर्य निकष', 'रत्नावली मे अलंकार-सौन्दर्य', 'The Concept of Development and Man' तथा "Army Problem in Kautilya's Arthasastra." कुल मिलाकर 'तुलसी प्रज्ञा' शोधार्थियों एवं जिज्ञासुओं के लिए एक उत्तम साहित्य सुलभ कराती है। ऐसे त्रुटिरहित सुन्दर प्रकाशन के लिए सम्पादक एवं सस्थान दोनों को बधाई।' ■

—डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव
संपादक, 'पञ्चाल'
पंचाल शोध संस्थान
कानपुर-२०८००१

ETYMOLOGY OF ṆĀYA

● *Ram Prakash Poddar*

The word 'Ṇāya' occurs interalia in the title of the sixth aṅga of the Ardhamāgadhī Canons viz. the Ṇāyādhammakahāo. The commentators and the translators of this aṅga variously derive this word from—

(i) Jñātṛ, name of the clan to which lord Mahāvīra belonged;

(ii) Jñāta, said to mean 'example story' i e. story told to illustrate a point in debate, discourse or exposition of a text; and,

(iii) Nyāya, used in the sense of a popular maxim or citation.

Mahāvīra has been called Ṇātaputta or Ṇāyaputta <Jñātṛputra. But there is no instance of this epithet being haplographed as Ṇāta or Ṇāya. So the first derivation is not appropriate and it is gradually being discarded.

The second derivation, viz. from Jñāta is much in favour. In Prākṛita Jñāta may change into Ṇāta and Ṇāya both. In the third aṅga Ṇāta or Ṇāya has been elaborately dealt with: (4.499, JVB edn). Here it is said to denote a variety of example stories. It has been divided into four main categories, (i) āharaṇa, a story which has been framed for the sole purpose of illustrating a particular point; (ii) āharaṇataddesa, a story only a part of which illustrates the point to be established; (iii) āharaṇataddosa, a story which illustrates or implies something unethical, and (iv) uvannasovagaya, a counter illustration story (told to annul the illustration story of the opponent). Each main category has been divided into four sub-categories. the last sub-category of the last category having further four sub-categories, thus bringing the number of the sub-categories to nineteen. This elaboration shows that the type of stories called Ṇāta or Ṇāya (Jñāta) were found on an extensive scale.

In the Sūyagaḍa also there is a Ṇāya (2.1.11). In concluding line—'kittiye ṇāe samaṇāuso; atthe puṇa se jānitavve bhavati', gives some idea about the nature of a ṇāya. In Samavāya (19.1.2) each section of Ṇāyādhammakahāo // Book I has been called Ṇāya. The second Book in its colophon stanza is called Dhammakahā Suyakkhandha. So Dr. Kapadia assumes that the title Ṇāyādhammkahāo means Nayas and Dhammakahās. Obviously he treats Ṇāyā as the plural form of nominative singular Ṇāya. Others take ṇāyā to be an adjective in agreement with the feminine

plural of Kahāo.

But we have instances of Ṇāya being a neuter noun also. In the Vasudevahiṇḍī we come across some illustration stories called Ṇāya. One of these is Dhanasiri - Ṇāyaṁ which has been told to establish that there are women of firm character too (Daḍhasīlāe-Dhanasiri-Ṇāyaṁ). The author of the Vasudevahiṇḍī claims that it belongs to the Paḍhamāṇuyoga category. So it may be taken to be of Āgamic antiquity. Again, in the body of the Ṇāyādhammakahāo itself we come across the forms Ṇāya and Ṇāyaya also. There may be a feminine form Ṇāyā too. This leads us to the conclusion that Ṇāya, Ṇāyā and Ṇāyaya have analogous origin. These are derived form Jṇāta and Jṇātaka.

Although commentators say that Jṇāta is an illustration story (dṛṣṭānta kathā) and there is also an elaborate account of Ṇāta or Ṇāya <Jñāta, in the Ṭhāṇa, yet the word Jñāta (that which is known) and for that matter the word Jñātaka too, hardly conveys the sense of illustration story, unless we take the word Jṇātaka as having come down from Jṇāpaka (that which makes known) through popular etymology.

In the Bṛhatkathā-ślokasaṁgraha an illustration story has been called a Jñāpaka. It is told to establish the view that Destiny (daiva) is stronger than human endeavour (puruṣakāra) Here the word Jṇāpaka has been used in the same sense as Ṇāya in the Vasudevahiṇḍī. It may be noted that Vasudevahiṇḍī and Bṛhatakathā-ślokasaṁgraha have large areas of intersection, maybe the two have sprung from the same source, viz. the Paiśācī Bṛhatkathā. Their period of composition too may be the same. Then a modern Hindi commentary upon the Ṭhāṇa (JVB edn) uses the word 'Jṇāpaka' as an equivalent of Ṇāta or Ṇāya<Jñāta. In the light of the above an etymological relation between Ṇāta/Ṇāya<Jṇāta, Ṅāyā/Ṅāyaya<Jṇātaka on one hand and Jñāpaka on the other cannot be ruled out.

There can be no doubt that Jñāpaka (that which makes known) is semantically closer to illustration story than Jñāta or Jñātaka. We may assume that at some stage Jñāpaka changed to Jñātaka through popular etymology. Uses of the Jñāpaka tpye of stories were so frequent that these stories became quite well known, so much so that a slight reference like 'saṁsayappā vinassai' or 'madhu eva paśyati prapātam naiva paśyati' was hint enough for the readers or the listeners to reconstruct the story. So such stories came to be popularly called known (Jñāta/Jñātaka) stories. In the Prakrit stream Jñāta changed to Ṇāta and Ṇāya and Jñātaka changed to Ṇāyaya. In the Pali stream Jñātaka gave rise to Jātaka whose

dominant characteristic is that of an illustration story told to illustrate one or the other of the pāramitās and other like virtues. As regards its being called 'Birth Story' or 'Story of the Buddha's former Birth', it is evidently a misnomer. Jātaka as a *tatsama* word means 'a new born babe' and not 'birth' and never the repeated births of one and the same individual. Roots of the Jātakas lie in the illustration stories found in the Pali canons in the form of digest verses (saṁgraha gāthā). These were later elaborated into prose-and-verse stories The root sense of Jātaka <Jñāpaka having been lost, and the pseudo-sense of 'birth' becoming dominant along with the urge to relate all the stories with the Buddha, the protagonists of all such stories were converted into the Buddha in his former births. Nay, Buddha in his former birth was deliberately imposed even on popular stories of other types having little to do with the Buddha or Buddism. Thus the Jātakas grew into a heterogeneous collection having only one string in common, the Buddha in his former births. Naturally it became the sine qua non of Jātaka and bequeathed an alien meaning upon this word.

Now let us come to the third derivation viz from Nyāya, meaning a popular maxim or citation. This has been suggested by Dr. Hiralal Jain. The sagacious veteran of letters has intuitively taken a stride in the near right direction, because between Jñāta and Nyāya (in the above mentioned sense) the latter is semantically closer to 'illustration story'. A Nyāya, such as 'nṛpa-nāpitaputra-nyāya' or 'vṛddha-kumārī-vākya (vara)-nyāya is essentially constituted by the stumps of what once might have been a full fledged illustration story. The stumps help one in recalling the illustration or example story. So Nyāya (in the above mentioned sense) is a close kin of Ṇāya. Nevertheless, Dr Jain's suggestion has to be turned the other way round, because in all probability it is Ṇāya which has given rise to Nyāya through a process which may be called false or pseudo-Sanskritisation of Prakrit words. Nyāya as popular maxim or citation has nothing to do with its root meanings such as justice, logic, discernment etc. It is rather akin to Ṇāya, an illustration or example. So it is not Ṇāya deriving from Nyāya, but Ṇāya falling wide of the mark in course of retracing its origin and blundering into Nayāya. In Prakrit etymology such blunders are not rare. The irony of it is that, the causal sequence having been lost or reverted, the blunder becomes indiscernible. We have another example of such false or pseudo-Sanskritisation in 'Viśvakarmā' of which the usage is not in conformity with the etymological meaning. The word is used to denote the presiding deity of engineering, sculpture and masonry etc. But etymologically it should mean the maker of the universe, whereby

it becomes analogous with Brahmā, the creator, which it is not. This leads us to assume that it is pseudo-Sanskritisation of Visakarmā < Viśakarmā which will etymologically mean a maker or planner and constructor of a township or settlement and its accessories. The word is extant as surname in certain clans, maybe it was initially related with their specific trade or profession of engineering etc. We have the same sort of pseudo-Sanskritisation in Ṇāya > Nyāya. This assumption is corroborated by usage. Pancāsaka Prakaraṇa of Haribhadra mentions Cheyakūḍagarūvaga-ṇāya < Cheka-kūṭaka-rūpaka-nyāya (3 34) (the maxim or citation of current and counterfeit coins). It has the pithiness of Nyāya in the sense of popular maxim or example and not the elaboration required in an illustration (Ṇāya). So here we have an example of Ṇāya squeezing itself into the nutshell of a Nyāya.

Ṇāya survives as Nāiṁ in NIA meaning 'like' as in 'Kaha Sītā sunu jatī gosāiṁ/bolehuṁ vacana duṣṭa kī naiṁ' or 'as the example of' as in "Jahaṁ jahaṁ mohī lai jāhīṁ mori ati kuṭila karama bariāiṁ/tahaṁ tahaṁ jani china choha chārio kamaṭha aṇḍa kī nāiṁ". In the latter example it carries the aura of popular maxim or citation (nyāya) and if converted into 'kamaṭha-aṇḍa-nyāya' instead, it would convey almost the same sense. Another usage by the same author viz. Tulsidas establishes beyond all doubts that Nāiṁ has been derived from Ṅāya through auto-nasalization and change of the final ya to ī The usage is भई मम कीट भृंग की नाईं = the example of कीट and भृंग happened with me. It has in Sanskrit viz. कीट-भृंग न्याय. It shows that नाईं is a derivative of नायं ≤ नाय < न्याय

—Dr. Ram Prakash Poddar
Professer and Project Directer
M.A. (Jainology) Correspondence
Course, JVBI, Ladnun

IN SEARCH OF PEACE : AN ETERNAL QUEST

● *GBK HOOJA*

The world today stands in danger of being riven by such fissiparous and divisive forces as terrorism, fanaticism, apartheid, religious riots, ethnic clashes and war-mongers, which threaten to push mankind to the brink of a catastrophe. It would, however, be naive to say that these threats are new or are peculiar to the mankind. The duel between dark forces and forces of enlightenment is a continuing feature of human history. As expounded by Shri Aurobindo (1872-1950) in his Theory of Integral Yoga, "life is a battle-field of constant struggle between the progressive evolutionary forces and atavistic or retarding forces of evil". The progressive or upward pulling evolutionary forces are in continuous conflict with the downward, depressing forces of gravity (inertia). But the gravity of the situation as it faces humanity today has assumed very ominous proportions, paradoxically with the advancement of Science and knowledge, since it has placed in the hands of unscrupulous elements nuclear weapons of destruction, capable of blowing the world many times over. This is what made an illustrious poet of our times pray for knowledge tempered by wisdom.

It has been truly said that a little knowledge is a dangerous thing; and no human being can claim to be all-knowing. That is what calls for the importance of *gurus*, (teachers), true *gurus*, who may show light to the bewildered humanity, *gurus*, imbued with the right religious spirit, with compassion for not only mankind, but for the entire creation, since in this global society, there is a symbiotic relationship between various organisms, each of which depends for its existence on the other. To ignore this truth is to invite self-destruction, disaster. This is what made Einstein say that Science without spirituality is blind, even as spiritualism unchecked by scientific temper may degenerate into fraud, self-hypnosis, leading to dark alleys of blind faith. Thus what the mankind needs today as ever is a happy blend of Science and Spirituality. These are the two eyes which should guide mankind on its onward march through time and space.

Individual, Family and Relatives

The individual stood at the centre of these circles, surrounded by (1) the Family, (2) the Relatives, (3) the Municipality, (4) the Nation, (5) the World-State, not unlike the socio-political concept of Dayananda (1824-1883) and Gandhi (1869-1948). After the development of self Family forms the first sphere of activity in the service of Humanity, thus such care should be taken that love of family does not deteriorate in "familyism", and "family-egotism" does not prompt people to "rob their neighbours and ruin the State", warns Har-Dayal. While the family may be served to the best of one's capacity, "familyism" should not be allowed to make a harmonious social life impossible. Similarly, an individual owes a duty to the relatives too.

Municipality

Next comes the Municipality. It is territorial and political in its nature and scope. It is our "political" home. We are united to the other inhabitants of the village or town by the civic bond of a common political organization. This sacred tie of citizenship elevates an individual to the status of a "civilized" person. True public spirit can be developed within the limit of the Municipality. This is the cradle of citizenship. Thus one should discharge all duties of citizenship as an honest and trustworthy citizen. One should take a deep pride in one's Municipality and its history. A town is not mere agglomeration of streets and houses; it is a community with a past. So its healthy growth should command the allegiance of every citizen.

Nation

Nation is the next concentric circle, surrounding an individual. But just as the family stands in the danger of degenerating into "familyism", so does the nation stand in the danger of deteriorating into "narrow, chauvinistic nationalism" at the cost of humanity at large. Such "nationalism" gives rise to Imperialism, Fascism. It has led to the slaughter of millions of human beings It has led to the enslavement of tribes and smaller and weaker nations. It has held humanity to ransom.

World-State

This too must lapse into history as a passing phase like feudalism and yield place to the world-state and world-citizenship, which is the logical consummation of the city-state and the nation-state. Then humanity will breathe a sigh of relief and be free from the fear of war and mass homicide.

Evil of militarists

To bring this about, the world needs an international group of convinced and consistent anti-militarists, who understand clearly that violence breeds further violence, and is thus an evil to be shunned at all costs. A study of the economics of militarism would make the position further clear. Billions of dollars are being spent to keep the war-machines of nation-states in a state of readiness, while millions of human beings go without neat drinking water, food, shelter, medical aid, education, minimal decencies of life. The communication revolution has reduced the world into a global village and the day is not far when with the advance of Democracy, the evil forces of Tyranny shall surrender to the forces of Peace and World Commonwealth They are already in retreat.

Political Democracy depends on Economic Democracy

On Political Democracy and the representative form of Government which obtains in certain countries too the views of Har Dayal are equally carping and critical. It is self-evident that there can be no real Democracy without economic Democracy. Says Har Dayal, "Parliaments are now moribund institutions of decadent Capitalism. They are the sanctuaries of middle-class adventurers. They have created a new tin-god, viz., the M.P., for the worship of the simple-minded citizens... They are hot-beds of intrigues and corruption, of snobbery and sychophancy. (It may be noted that Dayal was writing before this tribe descended on India. His observations arose from his experience in the West). He goes on to say : "Demos may now rise in wrath and say, 'Away with these hucksters and tricksters, who draw big salaries for deceiving and duping me, why should 615 mercenary talkers make laws for 48 million ? (Evidently, the reference is to the British Parliament). Who ordained these political priests and mediators that have turned my Temple of Wisdom into a den of thieves ? This circus must now be closed for ever. I will legislate directly in future, and thus be mistress in my own house.' "Dayal said that Democracy in the world-state would be direct, not representative. Does a citizen eat by proxy, drink by proxy, marry or die by proxy ? Why should he then make laws or choose policy by proxy ? Thus he advocated Participatory Democracy and what is in modern idiom called Democratic Decentralization. "If you do not wish to go back to dictatorship, you must march forward to the Poll of the People. Government by Parliament is only camouflaged slavery. Only the permanent and universal Referendum can make each citizen a free voter and a free man," he said.

Certainly, Dayal was ahead of his times. But he was the

harbinger of New Times. His writings lighten the new Path, show the glow of Freedom and Faith. He speaks of the highest Citizenshih which is also the highest Ethics. Here we may agree with the poet that—

> "A time like this demands
> Strong minds, great hearts, true faith, and ready hands;
> Men whom the lust of office does not kill;
> Men whom the spoils of office cannot buy;
> Men who possess opinions and a will;
> Men who have honour, men who will not lie;
> Tall men, sun-crowned, who live above the fog,
> In public duty and in private thinking."

But man is not entirely a rational animal. Besides reason, he is governed by instincts, emotions, prejudices. predilections, genes, in short, *samskaras*. This brings us to the importance of education, formal, informal, non-formal, education to mould a person, to polish his psyche, not merely to impart skills or dexterity.

Problems facing the youth

Recently, I had an opportunity to meet a group of young teachers, under the aegis of the Academic Staff College, Aligarh Muslim University. They had been called from various Universities from all over India to undergo an orientation programme, instituted in the wake of the New Education Policy. It was a very lively, vibrant and socially awakend group. I asked them to identify national problems facing the country and perplexing them, in the context of the objectives of the programme, which was meant to enable the newly appointed teachers to understand amongst others :
(a) the significance of education in general, and higher education in particular, in the global and Indian context; and
(b) the linkages between education and economic and socio-cultural development with particular reference to the Indian polity where secularism and egalitarianism are the basic tenets of society.

The young teachers, who came from varying backgrounds listed the problems in the following order of priority :

(1) Threats to National Integration;
(2) Linguistic Problems;
(3) The bane of Political Pollution;
(4) Crisis of character;
(5) Over-population and unemployment;
(6) Adult illiteracy and lack of access to education;
(7) Low Status of Women;

(8) **Lack of sound leadership for the Youth.**

It seemed to me that the young teachers were in search of a social order which would be free from :

(1) Ignorance;
(2) Want; and
(3) Injustice.

They felt that threats to national integration emanated from lack of socio-economic justice, unemployment, lack of facilities for meaningful education, lack of youth counselling and guidance, lack of female education, over-population and lack of scientific temper. Terrorism, communalism, obscurantism and fundamentalism were rooted in lack of communication as well as in socio-political and economic discrimination. Thus the participants felt that there was need for extending the boundaries of the Universities and to spread education and more education beyond the walls of the Universities to cover the disadvantaged and deprived population living in the neighbourhood. In short, Universities should undertake extension activities along with teaching and research. It was noted that despite pious Directives of State Policy having been enshrined in our Constitution, despite noble aspirations having been spelt out in our successive 5 year Plans, much to our shame, there is a pall of illiteracy and penury hanging over us. According to this measure, our educational system and Planning have failed. In fact, every deprived and disadvantaged young man or woman, who suffers under a sense of discrimination, is a potential threat to national integration, as long as he or she nurses a sense of alienation born out of fear and frustration founded on social insecurity.

A related question which came up for examination was whether religious education should form part of the formal system of education. The consensus was that religious education could not be neglected, but it should emphasize moral and ethical values, based on a comparative study of various faiths and religions, since all of them sought to project self-evident and eternal values like brotherhood of man, mutual cooperation, social harmony etc.

Anuvrata movement

In this context, I brought to the notice of the group the philosophy of the Anuvrat movement, sponsored by Acharya Tulsi, I pointed out that the central *mantra* (formula) of the Acharya was : *samyam hi jivan hai* (self-restraint is life). He believed that the society and the nation shall be reformed and regenerated, if the individuals are reformed. I read out the eleven small vows prescribed by him for

hisfollowers and indeed for all those who may elect to subscribe to them, as well as the 6 vows prescribed by him for the students and 5 vows for the teachers. While generally accepting the validity of the movement, questions appeared to arise over the impact of the social milieu, in which an individual has to live, on his behaviour-pattern.

Thus, enigmatically, man is both the creature and the creator of his environment.

Experience shows that the average man and woman cannot be truthful, honest and unselfish under a tyrannical government, a feudal system, an oligarchic or a capitalistic regime. Even the noblest saints and sages must commit some sins, if they live in a society dominated by autocracy, injustice and inequality; see for instance the heroes of the Mahabharata. No one can entirely escape the influence of political and economic environment.

As pointed out by Har Dayal (1884-1939), the great Indian revolutionary in his writings, hints for self-culture (1934), Personal Ethics and State-Ethics rise and fall together.

According to him, Personal Ethics has 3 dimensions ; (1) Discipline; (2) Development; (3) Dedication. Discipline aims at the control of passions, impulses, appetites. Development is growth, unfoldment of body, mind and soul, expansion and enrichment of Personality. Dedication consists in the consecration of the disciplined and developed Personality in the service of Humanity and the World State.

He recommends the five fold course of preparation for development of moral culture;

(1) Since character is developed in a social milieu, you must belong to a society or club that aims at the realisation of your ideal.

(2) Since character is influenced by the example of a living teacher, attach yourself to the one who is most virtuous in his daily life, noted for simplicity, gentleness, temperance, patience and active benevolence;

(3) The living guide is only the last link in the chain of virtuous men and women who connect you with the great prophets of the past;

(4) Since virtue is a social product, you should join a society or fellowship of like-minded persons, but at the same time have 2 or 3 dearest and closest friends, who may act as your mentors and monitors and serve as your ethical mirrors. Thus Friendship serves as the handmaid of Ethics; and

(5) Daily Meditation.

Four themes of meditation, Har Dayal recommends :

(a) The 4-fold ideal of self-culture; physical, intellectual, aesthetic and ethical;

(b) the 4 principles of political and economic organization : Democracy, Liberty, Equality and Fraternity;

(c) Virtues of great men and women;

(d) Those who are afflicted by poverty, oppression and exploitation. Send to them your thoughts of love and sympathy;

(e) Those who may be rejoicing at the moment. Send them your good wishes;

(f) Unity of mankind. Have a globe in your room, and also pictures of your friends belonging to different races and nations. Cultivate cosmopolitan ideal; and

(g) Some great precepts and maxims culled from the scriptures of all religions and the poets of all countries.

I have taken the liberty of quoting Har Dayal at some length because in his thirties he was an ardent revolutionary, who believed in the cult of the bomb for the liberation of the Motherland. A learned scholar, he sacrificed everything for the cause of India and humanity. He was the high priest of the *Gaddar* movement which was launched to uproot the British Empire from the soil of India during the Ist World War. He had a phenomenal memory and was stndent prodigy. Having won the State Scholarship in 1905, he proceeded to England for higher studies where he joined the St. John's College, Oxford. I.C.S. was the next step, but having come in contact with Shyamaji Krishnavarma and Savarkar, he began to think differently. It may be noted that this was the period when the *Swadeshi* movement in Bengal had stirred up the whole country. The victory of Japan over Russia had raised the self-esteem of Asians; and then followed the *kisan* agitation in the Punjab, culminating in the deportment of Ajit Singh and Lajpat Rai, in 1907. This year fell the anniversary of the Ist Battle of India's Independence, and Shyamaji Krishnavarma undertook the formation of an organization of Political Missioneries in India Har Dayal wrote its constitution. What sort of men do we want for this Society,† he asked. "They should love nothing more than the cause", he proceeded to answer. It should be to them in the place of the father, the mother, the brother and the friend.... They should undertake the task in a reli-

gious spirit; earnestness and self-denial should be their guiding principles. They should grieve like commander Hirose of Japan that they have only one life to give to their country. If such be the appeal to the downtrodden masses of India, they would conquer hearts of the multitudes of our people, who pay sincere homage to genuine character."

Imbued with these motives, Har Dayal gave up his scholarship, much against the advice of his Principal and the Under-Secretary, Sir James Lyall. He sailed foı India in January, 1908, along with his wife, Sundar Rani.

Back in India, he preached his ideas through his personal life and private talks. The corner-stone of his ideas was nationalism. Soon, however, things hotted up in India for the revolutionaries, and Har Dayal was persuaded to go abroad for the sake of the Cause. In 1909, he was found editing the *Bande Mataram*, the official organ of the Indian Independence League from Geneva. In the columns of *Bande Mataram*, Har Dayal outlined his technique for fighting for Freedom thus :

(a) Moral and intellectual preparation;

(b) The second stage is that of war... And the only agent that can accomplish this work is the sword. No subject nation can bring Freedom without war;

(c) After the war, reconstruction and consolidation.

Later, Har Dayal moved to U.S.A., and led the fomous *Gaddar* movement, which threw up countless heroes and martyrs. As the curtain fell on this episode, Har Dayal moved into channels of scholarship, facing heavy odds and self-chosen penury. End came in 1939, in Philadelphia.

Har Dayal on Nationalism, Violence, War, Political Democracy

Before the end, he had reasons to modify his views on Nationalism, Violence, War, Political Democracy, and set them forth elaborately in the *Hints* (1934), with characteristic enthusiasm and erudition. Study of History made him a convinced cosmopolitan. He approvingly quoted Goethe, who said : "Above all nations is Humanity"; and went on to add that "The Unity of Mankind will shine forth like sunshine and destroy the malevolent microbes that breed such destructive plagues as Nationalism and Race-pride " He considered the study of World history as a cure for the "intellectual myopia" from which some "squinting patriots and race-philosophers" suffer. They see only a part of Humanity and not the whole of it; and tend to forget that all men and women belong to the

species, *Homo sapiens.* "As the Earth nourishes all, and the sun shines on all, so let your fraternal sympathy extend to all men and women, excluding none," he wrote; and proceeded to quote from the ancient epic, *Mahabharata,* which teaches this ideal in Sanskrit verse :

Small souls enquire, 'Belongs this man
To our own race or sect or clan
But larger-hearted men embrace
As brothers all the human race."

—Pro GBK. Hooja
A-15 a,
Vijaya Path
Jaipur-302004

BĀRĀBUDURA AND ĀNANDA
(Two out-side temples of India)

● *Parameshwar Solanki*

The Malay Peninsula served as the main gate of the Indian Colonial expansion in the Far East Perhaps ***Takua Pa*** was the first landing stage of the Indian traders. Even today persons of an Indian cast of features are common on the West coast near ***Takur Pa***, while colonies of Brahmanas of Indian ancestry survive at ***Nakhou***, ***Shri Dhammarat*** and ***Patalung*** and mark the arrival of their ancestors from India by an overland route across the Malay Peninsula.

South Indian History records a big naval expedition, in this connection. The Chola king Rajendra crossed the Bay of Bengal and landed an army which conquered successively a number of feudal principalities in ***Sumātrā*** and ***Jāvā*** Then crossing over to Malay Peninsula he conquered the chief strongholds of the Shailendra empire which comprised the whole of Malay Peninsula, Jāvā, Sumātrā and may other neighbouring islands.

The Cholas were devotees of Shiva and the Great Rajaraja, father of the king Rajendra was a great builder and the famous temple at ***Tanjore***, named after him as ***Rājarājeshvara*** still testifies to the glory of Chola art. But he was tolerant enough and he helped the Shailendra king of Jāvā, Māravijayotunga Verma to costruct the ***Chūḍāmaṇi Verma Vihāra*** in Nāgapattam and the Chola king himself presented a village to the ***Vihāra***, while his son, King Rājendra undertook a maritime expedition against him and apparently forced him to recognise Chola suzerainty.

Anyhow Shailendras were great power and they established their sway over nearly the whole of ***Suvarṇadvīpa***, comprising Malay Peninsula, Sumātrā, Jāvā, Bālī, Bornio and other islands of the East Indies. Ancestral home of the Shailendras was also India, but their migration obscure.

The Shailendra Empire is referred to by various Arab writers who designate it as ***Zābāj*** (जाबाज) and describe its wealth and grandeur in glowing terms The ***Zābāj*** is said to have been overlord of a large number of islands extending over a length of 1 000

parsangas. Even the most rapid vessels could not complete in two years a tour round the isles which were under his possession.

The Shailendras were Buddhists and maintained diplomatic relations with *China* as well as the *Pāla* and *Chola* empires of India who helped them to build Buddhist sanctuaries at *Nālandā* and *Nāgapattam*. They were also great builders and the famous *Barabudur* in Jāvā is an undying monument to their power and glory.

Similarly the *Mrawemas*, a branch of the Tibeto-Dravidian, tribe who settled in Burma in the 9th century A D , founded an independent kingdom with *Pagau* as its capital. The classical name of this city is *Arimardanapura* and the kingdom was known as *Tāmbradīpa*.

The first Mrammals king of importance was *Aniruddha* who ascended the throne in 1044 A.D. He was a great conqueror. He defeated the king of North *Arākān* and *Shān* chiefs of the east. He is said to have visited the Indian land of Bengal also He gained a position of international importance and married an Indian princess. The Burmese chronicles give a long account of his journey to Burma.

When Ceylon was invaded by the *Cholas*, its king sought for the aid of Aniruddha and later asked him for Buddhist monks and scriptures. In return the Ceylonese king sent him a duplicate of the tooth relic of Buddha. As soon as the ship carrying the relic arrived, king Aniruddha himself waded through the river to the ship, placed the casket on his own head and carried it in procession to the shrine he had built for it—the famous *Shewzigan Pagoda* which still attracts worshippers from all over Burma.

Kind Aniruddha was succeeded by his son, known as *Kyanzittha*, who assumed the title *Tribhuvanāditya-Dharmārya*. During his reign, Burma was in intimate touch with India. It is said that the king fed eight Indian monks with his own hands for three months and hearing from them the description of Indian temples, designed and built the famous temple *Ānanda*, the masterpiece of Burman architecture.

The Bārābudur

The most important monument in Jāvā is Bārābudur. It was built under the patronage of the Shailendras. This noble building consists of a series of nine successive terraces, each receding from the one beneath it, and whole crowned by a bell-shaped stupa at the centre of the topmost terrace. Of the nine terraces the six lower ones are square in place, while the upper three are circular. The lowest

terrace has an extreme length of 131 yds and the topmost one a diameter of 30 yds. The five lower terraces are each enclosed on the inner side by a wall supporting a balustrade, so that four successive galleries are formed between the back of the balustrade of one terrace and the wall of the next higher one. The three uppermost terraces are encircled by a ring of stupas, each containing an image of Buddha within a perforated frame-work. From the ninth terrace a series of circular steps lead on to the crowning stupa. The balustrade in each terrace consists of a row of arched niches separated by sculptured pands. All the niches support a superstructure which resembles the terraced roof of a temple, with bell shaped stupas in the corners and the centre, and contain the image of a *Dhyani Buddha* within. There are no less than 432 of them in the whole building and some of them may be regarded as the finest products of Indo-Javanese sculpture.

There is a staircase with a gateway in the middle of each side of the gallery leading to the next higher one The doorway is crowned by a miniature temple-roof like the niches of the balustrade. The beautiful decorations of the doorways and the masterly plan in which they are set—commanding from a single point a fine view of all the doorways and staircases from the lowest to the highest—introduce an unspeakable charm and invest them with a high degree of importance in relation to the whole edifice.

The series of sculptured panels in the galleries form the most striking feature of Barabudur. On the whole there are eleven series of sculptured panels, the total number of which is about fifteen hundred.

It may be safely presumed that the sculptures in the different galleries follow prescribed texts and it is not possible to interpret them without the help of those texts. They depict the life of Buddha, his great deeds and his previous birth i. e the Jātak stories. The story of Sudhana Kumar, who made sixtyfour persons his *Gurus*, passed through a hundred austerities and ultimately obtained perfect knowledge from *Manjushri* also seen depicted in series of these sculptures.

It seems probable that there was fixed plan according to which certain episodes were executed. No small number of sculptors were employed. It is a matter of course that they could not all work together on one relief, but each have had his appointed place to begin. The short inscriptions that have remained on the buried base, furnish evidence to support this view for they are clear

instructions to the sculptors. *Sanskrit* words in *Kawi* writing were intended for native craftsmen.

All in all, Barābudar is indeed an extraordinary monument, in its unusual form, its majestic conception, the vast quantity of subjects represented on its reliefs, in fact, in every respect it is unique. E. B. Havell, the famous art critic, praises the naturalness, vigour and grace of it. He writes "The Bārābudur sculptors have known how to convey the essence of Truth as it is found in Nature without obtruding their own personality, or relying on any of the common tricks of their craft. Their art, used only in service of truth and religion has made their hands the obedient tools of a heaven-sent inspiration; and their unique power of realising this, with a depth and sincerity unsurpassed in the art of any land or in any epoch, gives them a right to rank among the greatest of the symbolists in the whole history of Art."

Temple of Ānanda

As stated above, Tribhuvanāditya-Dharmarāja designed and built the famous temple of Ānanda. It occupies the centre of a spacious courtyard of pagan in Burma, which is 564 ft. square. The main temple, made of bricks is also square in plan, each side measuring 175 ft. A large gabled porch, 57 ft. long, projects from the centre of each face of this square, so that the total length of the temple, from end to end, on every side is nearly 290 ft. In the interior the centre is occupied by a cubical mass of brickworks, with deep niche on each side, containing a colossal standing Buddha image 31 ft. in height above the throne which itself is about 8 ft. high. The central mass is surrounded by two parallel corridors, with cross passages for communication between the porch and the Buddha image on each side.

Externally, the walls of the temple, 39 ft. high, are crowned with a battlemented parapet having a ringed pagoda at each corner. Above the parapet rise in succession the two roofs over the two parallel corridors below, each having a curvilinear outline and an elongated *Stupa* at the corners and a dormer-window in imitation of the porches at the centre. And above these two roofs are four receding narrow terraces which serve as the basement of a *Sikhara* crowned by a *Stupa* with an elongated bell-shaped dome and a tapering iron *hti* as its final. Each of the receding stages has the figure of a lion at the corners and small imitation porch openings in the centre.

Apart from the graceful proportions and the symmetry of design,

the beauty of the Ānanda temple is enhanced by the numerous store sculptured reliefs and glazed terracotta-plaques that adorn its walls. The stone-reliefs, eighty in number and some of the plaques illustrate the principal episodes in the Buddha's life and 926 plaques depict the *Jātaka* stories.

The unique character of the plan of the temple has evoked much discussion about its origin But, there is no doubt of it derivation from Indian type. Every thing in this temple from *Sikhara* to basement, bears the indubitable stamp of Indian genius and craftsmanship. A modern European author writes ; "Still in daily use as a house of Prayer the *Ānand*, with its dazzling grab of white and its gilt spire glittering in the morning sun, is today one of the wonders of *Pagau* Inside the temple, two life-size statues kneel at the feet of a gigantic Buddha, they have knelt there for more than eight centuries One of these is the king and the other his teacher *Arahan*. The face of the king is not Burmese—his mother was an Indian lady."

The Ānanda temple was really designed on Indian models. Temples of the same type existed in Bengal and most probably suggested the model of the Ānanda temple. In this way we may take it, therefore that the Ānanda, though built in Burmese capital, is an Indian temple, indeed.

—Dr. Parameshwar Solanki
Editor, Tulsi Prajna
LADNUN-341306 (Raj.)

IMMUNITY AND ITS MODULATION BY CONSCIOUS MIND

● *J P N Mishra*

Mind-body relationship and its associated unresolved phenomenons are not new. In fact mind and body are not separte phenomenons, one considered to be spirit and other to be the matter. They both are the integral constituents or two facets of one compact information system In the past several theories have been given depicting various aspects of mind-body relationship but they all are still short of clear explanation they are interconnected and how they communicats to each other While describing the psychobiology of mind-body healing processes, scientists have considered limbic-hypothalamic system to be the main seat of *control* mediating and moderating emotionally-laden those psychological processes. The hypothalamus morphologically does not appear to be a descrete easily identifiable as are various other vital organs like heart, lungs etc. It is a locus of tissues with seemingly vague boundaries at the base of forebrain. It consists of several group of neurons termed as nuclei or centres of mind body transduction or regulation. These nuclei are concerned with the regulation of co-internal environment through autonomic, endocrine and immune systems. The word limbic was originally used to describe the border between the '*higher*' mind functions of cerebral cortex and '*lower*' structures of brain involved with the regulation of emotions and other physiological aspects of body physiology (Rossi, EL, 1988). The hypothalamus is considered to be the major output pathway of the limbic system. It integrates the sensory perceptual, emotional and cognitive functions of mind with body physiology. Since the limbic-hypothalamic system is in a process of constantly shifting psycho-neuro-physiological states all learning associated with it is of necessarily state dependant (Rossi, EL., 1988). In the recent years it has been recognised that hypothalamus also plays an important role in regulating the functions of immune system. Ader (1989) and Stein et al. (1981) have discovered the fact that hypothalamus (its anterior and posterior nuclei) can alter the function of immune system (both cellular and humoral immunity).

The morphological structures and functions of the immune system are simple to understand in general way but incredibly comp-

lex as well as mysterions in their particular. It is defined, in terms of functions, as a resistance to all types of external invasions The condition of insusceptibility to disease, due to the presence, in blood and tissues, of substances that inhibit development of the infection and owing to a change in the ability of the body cell to react against the causative agent is called immunity. These substances are known as antibodies or immune bodies. When immune bodies are present in the body at birth the condition is known as ***congenital or inherited immunity***. Accumulation of antibodies which provides nonspecific denfense against all foreign invaders the condition is called ***acquired immunity***. The first line of immunity are the skin, enzymes etc The second line of defense is within the blood in the form of white blood cells (WBC), lysosomes, polypeptides etc. WBC popularly known as lymphocytes because they concentrate themselves in lymph of body and are mobile units to destroy the foreign invaders inside the blood itself

There are 6000 to 8000 WBC per cubic mm of blood in a human adult. An increase in their number is known as leucocytosis, which is a characterstic of a number of pathological conditions but it may also be encounted within a healthy individual, WBC are of five types—neutrophils (60-70%), Eosinophils (2-4%), Basophils (0 5-1%), Lymphocytes (20-25%) and Monocytes (3-8%). In the process of immunity it is mainly neutrophils and monocytes that destroy invading bacteria, virus and other toxins. The neutrophils are the mature cells that attack and destroy the bacteria and virus in the circulating blood, while monocytes are immature cells and have less ability to destroy the pathogens in blood When they reach to the injured tissues they are being activated, to be converted into macro-phages to combat pathogens at the site.

Acquired or adaptive immunity is the ability of the body to defend itself against specific invading agents such as bacteria, virus, toxins and some other foreign tissues It consists of two closely allied immune responses In the one process of response formation of specially sens tized lymphocytes takes place that have the capacity to attack on to the foreign agent and destroy it. This is called ***celluler (T-cell mediated) immunity***. It is particularly effective against fungi, parasites, intracellular viral infections, cancer cells and foreign tissue transplants In other response body produces circulating antibodies that are capable of attacking on invading agents. This is called ***humoral (antibody mediated)*** (B-cell) ***immunity***. Cellular and humoral immunity are the product of the body's lymphoid tissue. The place-ment of lymphoid tissue is stratigically designed to intercept an

invading agent before it can spread too entensively into general circulation. The most important aspect of T-cell and B-cell lymphocyte operation is that they both have receptors on them which can put-on, modify and redirect their immune activities under the influence of messenger molecules coming from nervous system or endocrine system. In fact these receptors functions in accordance with lock and key arrangement, the lock being themselves and key to these locks comes in the form of neurotransmitters, hormones and neuropeptides. These substances have the capacity to turn on the activities of these lymphocytic T-cells and B-cells The types and structures of these messengers and receptor molecules, which must fit each oter to turn on cellular activities, establishes the essential architectural nature of the whole process.

Mind regulates the functions of immune system in three stages. Stage one consists of mind generated thoughts and subsequent neural impulses in the frontal cortex. In the second stage these impulses are filtered through the memory, learning an emotional areas of limbic hypothalamic system and transduced into immune system (Rossi, 1988 *Achterberg, 1985*) In the third stage conversion of lymphocytes into T-cell and B cell takes place in thymus and lymph area processing Neurotransmitters from autonomic nervous system and hormones from endocrine glands reaches to the receptors of these lymphocytes thereby enhancing their activites. Nicholas Hall et al (1985) have shown that ***immunotransmitters*** are certain specific molecules that are produced predominantly by the cells that comprise the immune system, that transmit specific signals and informations to the neurons and few other cells, thereby providing feed back signal. They also said that it seems that nervous system is capable of altering the course of immunity via ANS and neuroendocrine pathways. EL Rossi (1986) have mentioned that inhibiting or stimulating the hypothalamus results in accountable changes in immune activities. Since the hypothalamus is being governed by higher brain centres, these intercommunications between the immune system and hypothalamus may be liable to conscious mind modulation Further it is proved that lymphocytes bear the receptors for neurotransmitters and hormones, the mind modulating effects of nervous system and endocrine system may be communicaied to immune system too.

■

***References* :**

1. Achterberg, J. (1985) Imagery and healing Boston, Shambala
2. Ader, R. (1985) Behavioral conditioning and the immune system. In. L Temoshok C. Van Dyke and T. Melnechun (Eds.), Neural Modulation of Immunity. New York : Raven Press, pp., 55-69.
3. Rossi, E.L (1988) Psychobiology of Mind-Body healing; New concepts of Therapeutic Hypnosis, W.W. Norton & company, INC, New York.
4. Stein M, Schleifer, S. and Keller, S. (1981). Hypothalamic influences on immune responses. In A Ader (EL) Psychoneuro immunology. New York : Academic Press, pp. 429-447.

—Dr. JPN Mishra
Asstt. Professor
JVBI, Ladnun.

IMPORTANCE OF 'SWEDA' IN YOGIC PRACTICE*

● *Chandramauli S. Naikar*

Etymologically, the Sanskrit word *Yoga* derives from the root '*Yuj*' meaning 'to bind together", "hold fast", "yoke", "merge", "join" or "unite". *Yoga* is the union of the soul with the eternal truth, a state of unallayed bliss, arising from conquest of dualities. The term *Yoga* serves in general, to designate any ascetic technique, and any method of meditation. The 'classical' form of *Yoga* is a *darśana* expounded by *Patañjali*[1] in his *Yoga Sūtra* and it is from this 'system' that we must understand the position of *Yoga* in the history of Indian thought.

The *Yoga* system, however, being older than the *Yoga Sūtras* of *Patañjali*, we find almost completely developed in the *Maitri Upaniṣad* the technique prescribed in the *Yoga* or concentration of thought.

Mircia Eliade writing on *Yoga*, enlists the eight Yogic techniques as : "The Yogic technique implies several categories of physiological practices and spiritual exercises called *aṅgas*, "member" or elements. The eight "members" of classical *Yoga* can be regarded both as forming a group of techniques and as being stages of the ascetic and spiritual itinerary whose end is final liberation They are : (1) restraints (*Yama*), (2) disciplines (*Niyama*), (3) bodily attitudes and postures (*Āsanas*), (4) rhythm of respiration (*Prāṇāyāma*), (5) emancipation of sensory activity from the domination of exterior objects (*Pratyāhāra*), (6) concentration (*dhāraṇā*), (7) Yogic meditation (*dhyāna*) and (8) enstasis (*Samādhi*) (*Yoga Sūtra*, 2 28) [2]

In addition to this classical *Yoga* comprising eight members ; *Aṣṭāṅgayoga*[3] as formulated by *Patañjali*, there exist a number of six limbed Yogic regimens known as *Saḍaṅgayoga* The main characteristic is the absence of the first three *aṅgas* (i.e. *Yama*, *Niyama* and *Āsana*) and the introduction of a new "member", *tarka* (reason) logic).[4]

However I propose to restrict the scope of my paper only to one technique namely *Prāṇayāma* with a special reference to the effect of sweat in the praise of *Prāṇāyāma*. *Prāṇāyāma* is a Yogic exercise in respiration and according to *Patañjali* (the exponent of *Yoga Sūtras*) a clear exposition of the spiritual values of *Prāṇāyāma* has been given

through his two Sutras :

Tataḥ kṣīyate prakāśāvaraṇam—II.52
Dhāraṇāsu ca yogyatā manasaḥ—II 53[5]

The natural tendencies of the mind and sense organs are condemned as evil because success in Yoga depends upon the introversion of the mind and the sense organs. A similar view is expressed by the author of *Haṭhapradīpikā* who held that *Prāṇāyāma* alone would be sufficient to overcome the evil tendencies of the mind and the sense organs :

Prāṇāyāmenaiva sarve praśuṣyanti malā iti[6]

Scholars and *Yogis* have held in high esteem the treatise on *Haṭhayoga* by Svātmārāma. His *Haṭhapradīpikā* being one of the outstanding *Haṭha* texts fully describes the eight wellknown varieties of *Prāṇāyāma* in the II lesson entitled : *Prāṇāyāma vidhāna Kathanāni*—"The description of the technique of *Prāṇāyāma*". The two types of *Prāṇāyāma* namely, (1) *sagarbha* (with *mantras* and (2) *Nigarbha* or *Agarbha* (without recitation of *mantras*) have been mentioned in the *Purāṇas* and *Smṛtis*, but Svātmārāma does not prescribe the practice of *Prāṇāyāma* accompanied with recitation of a '*mantra*'. The eight varieties of *Prāṇāyāma* or *Kumbhaka*[7] are :

(1) *Sūryabhedana*, (2) *Ujjāyī*, (3) *Sītkārī*, (4) *Sītalī*,
(5) *Bhastrikā*, (6) *Bhrāmarī*, (7) *Mūrcchā* and (8) *Plāvinī*.[8]

Svātmārāma holds that by the practice of *Prāṇāyāma* alone all the impurities in the *nāḍis*' can be removed :

Prāṇāyāmaireva sarve praśuṣyanti malā iti[9]

Prāṇāyāma means the breath control and the end product is mental calm and tranquillity of nervous system. The body and the mind become tolerant and the gains of *Prāṇāyāma* have been described thus : '*Prāṇāyāmena yuktena sarva rogakṣayo bhavet*' [10] Svātmārāma, after stating the technique of breathing and before explaining the eight[11] varieties of (*Kumbhakas*) *Prāṇāyāma* mentions that one should perform *Kumbhakas* four times a day i.e. in the morning, at noon, in the evening and at midnight, gradually increasing the number (of *Kumbhakas*) upto eighty[12] each time. Thus the number of *Prāṇāyāma* comes to three hundred twenty. Further Svātmārāma holds that the *Prāṇāyāma* of a low degree of merit generates *heat*; that of an intermediate degree *throbbing*; and in all its intensity *a condition* is (will be) achieved i.e. the covetted blissful position in which it becomes easy for *Prāṇa* to rise to *Brahmarandhra* (the highest central point in the brain) by *Prāṇāyāma* :

Kaīyasī bhavetsvedaḥ kampo bhavati madhyame /
Uttame sthānamāpnoti vāyuṁ nibandhayet[13] //

According to some Yogis perspiration or sweat is the result of practicing *Prāṇāyāma*, obviously because of the increase of the heat of the body. At this juncture it is interesting to note that *prāṇāyāma* is defined in brief as follows :

Prasveda kampanotthāna janakaśca yathākramam /

This means perspiration is an unavoidable and inevitable part of *prāṇāyāma*.

Svātmārāma, further holds that the perspiration or sweat caused by exertion due to *prāṇāyāma*, during *prāṇāyāma*, should be smeared or rubbed to the body and by doing so, the body attains strength and lightness :

Jalena śramajātena gātra mardanamācaret /
dṛḍhatā laghutā caiva tena gātrasya jāyate[14] //

The speciality of this couplet of Svātmārāma, is the importance of perspiration or sweat. Here it serves as the result of *prāṇāyāma* in the first stage and then as the effect on the body when smeared or rubbed all over, giving strength, lightness to the body This perspiration or sweat can be described as having *medicinal* value Like the oil rubbed to the body before bath, the perspiration is to be rubbed to the body by doing which the body becomes sturdy and hence more active and light. *Gorakṣa Śataka* too supports this view and states :

Angānām mardanam śastam śrama sañjāta vārinā[15]

The rubbing of the body with the perspiration given out during exercise i.e. *prāṇāyāma* is advisable. By consulting the Yogic texts only, we will not understand as to how this perspiration or sweat rubbed to the body gives sturdiness and lightness to the body. Therefore to know more about the *modus oparendi* of Perspiration, we are compelled to consult the medical texts which throw light on the functioning of perspirstion or sweat of the body and the results.

The medical science (alopathic), we are surprised to note, considers the sweat that comes out from the body by any means, is a waste product[16] and hence has seldom value like urine and stool.[16] But at the same time, it is interesting to know that the urine therapy is still in practice and some of the centres are working to cure and heal the diseases and wounds. But when we consult the texts of *Āyurveda Śāstra*, we come to know that the said *Śāstra* endorses the

view that the sweat is a waste product and when it goes out from the body, it helps the body to maintain its normal condition [17]

The *Caraka Samhitā* a text on *Āyurveda Śāstra* defines sweat as : "*Malaḥ swedastu medasaḥ*"[18] meaning 'sweat is the waste product of '*Medo dhātu*' and sweat is also described as one of the source of elimination of excess *ap dhātu* from the body [12] As a matter of fact the Anatomy states as follows :

"The organs concerned with the function of *sveda pravṛtti* are—*tvak* (skin) and *medo dhātu* (adipose tissue or subcutaneous fat). *Caraka* counts *medas* (fat) and *loma kūpa* (hair follicle) as a *mūla* of this system (c. *Vimarśah* 5/8) The *tvak* (skin) is a thin sheet covering the entire body, not uniformly thick in all places (skin of palms and soles being very thick), studded with innumerable *sūkṣma randhras* (minute perforations or pores) all over. These pores act as passage for movement of sveda and sprouting places for *loma* (body hair) and so are called as '*Svedamārga*' and '*loma kūpa*'. These are invisible to the naked eyes (*adṛśya*).

Beneath the skin, embedded in the thick pad of *medas* (subcutaneous fat) there are innumerable *sveda granthis* (sweat glands), of the size of pea, spread all over the body, but found in large numbers in particular areas like the *kakṣa* (axilla), *grīva* (neck), *pṛṣṭha* (back), *Uras* (chest), *Vankṣaṇa* (groin) *hasta* and *pādatalas* (palms and soles) These *granthis* are connected with the *sveda mārgas* (passages, tubes) which open upto the exterior of the skin, discharging the *sveda*, the watery fluid secreted by these glands.

Svedotpatti or production of sweat is a specialised function of the *swedā granthis* and is considered as important in maintenance of *dehoṣmā* (body heat) in normal condition. The *bhrājaka pitta* present in the tvak is to some extent responsible for this function, increasing the quantity of sweat when the body temperature rises high, thereby cooling it. During cold season the quantity of sweat produced will be very less. To *Sveda* is attributed the function of *Kleda dhāraṇa* or maintenance of water balance also, but this function is not very prominent In addition to *sveda*, these *granthis* also produce a little quantity of an oily substance—the *twak sneha* (sebum) which helps in the nourishment of the hair and maintenance of *Snigdhatva* (softness and greasiness) of the skin. Probably it is with reference to this substance and close proximity of *sveda granthis* with fat tissue, that *Āyurveda* describes *sveda* as a *mala* (waste product) of *medo dhātu*

Sweda is one of the source of elimination of excess *ap dhātu* from the body, though the quantity of eliminated is small during health.

On an average the quantity of *sveda* is about 500 c.c., but it varies from person to person; those of *pitta prakṛti* excreting the largest and those of *kapha prakṛti* the least quantity. As soon as it comes to the exterior, it becomes visible. During health, sweat can be seen accumulating in drops in the *kakṣa, bhru, grīva, uras, pṛṣṭha* and *vaṅkṣaṇa,* usually after physical exertion, exposure to sun and fire and in summer season. In some persons, a deposition of salt can be seen as fine white powder in these sites.

Sveda is a thin watery fluid, *Pīta* (pale yellow) in colour, *lavaṇa* (saltish) in taste, with *durgandha* (foul smell) and *Sasneha* slightly (viscid to touch); thus it is considered a *pitta dravya*

The factors which cause disorders are :

a) *Āhāra*—foods which are *uṣṇa* (hot), *kaṭu* (pungent), *atimadyapāna* (excessive alcoholic drinks), *tṛṣṇā nigraha* (suppression of thirst i e. not drinking fluids at all).

b) *Vihāra—Ati vyāyāma* (heavy exertion), *ati santāpa* (high temperature) improper use of heat and cold, *Krodha* (anger), *śoka* (grief), *bhaya* (fright) and other mental emotions.

c) *Karma vibhrama*—improper therapies such as *atiyoga, ayoga, mithyāyoga* of *śodhana cikitsās, snāna* (bath) *utsādana mardana-vyāyāma* (massage and exercises), *aśuci, sparśa* (contact with dirt, contaminated objects), *bhūta samsparśa* (bacterial infection)

d) *Viṣa*—(poisoning) external application of poisonous materials, accidental or intentional, insect bites, stings, irritant cosmetics, soaps etc.

e) *Auṣadhas*—drugs such as *swedala* (diaphoretics), *romanāśaka* (depilatory), *Viṣaghna* (anti-poisonous) and many other chemical drugs of the present day."[20]

After consulting the *Āyurveda* texts, we come to know that when the body becomes hot during *Prāṇāyāma* the various physical symptoms manifest. The body becomes hot due to increased activities of the sympathetic nervous system and sweat starts secreting so as to maintain the temperature of the body. When the body is unclean, impurities are exereted through the pores of the skin in the form of perspiration or sweat. When the body becomes purified by way of Yogic *'āsanas', 'Ṣaṭkriyās'* and *prāṇāyāma,* only water, salt and hormones are excreted through the skin by way of sweat This sweat excreted through the skin has its own qualities and functions i. e. *Guṇakarmas*. A Yogi or a *Sādhaka* or an aspirant who is strictly following the *Yama, Niyama, Āsana* etc. along with the prescribed

diet i.e. *Mitāhāra*[21] will naturally be free from the diseases, and hence he will have a special energy which is very healthy. Thereafter, he becomes eligible for the practice of *prāṇāyāma* and therefore in course of the practice of *prāṇāyāma* he gradually gets away the *doṣas* or *Kalmaṣa* and any other such *Tyājya padārtha* or waste products Then he seldom possesses such waste products during the advanced stages of *prāṇāyāma*. Therefore, we can say that the sweat of such an aspirant, seldom possesses any *doṣas*. Every minute particle or *Jīvakaṇa* will have subtle exercise by *prāṇāyāma* and the sweat excreted as such sweat containing more proteins, when goes out from the body, there is every possibility of losing the minimum proteins required to the body. Therefore, such kind of sweat needs to be reabsorbed in the body by way of rubbing that sweat again to the body so as to supply the required proteins and as a result of which the body becomes sturdy and the sweat glands too become powerful and the body becomes light also[22] In addition to this we may note that when the body becomes hot due to breath control (*prāṇāyāma*), excess water may be lost during *prāṇāyāma* We may compare the *Śiva-saṁhitā* which supports this view from other angle There it is said : /'When the body perspires rub it well into the body, otherwise the *Yogī* loses his *dhātu*''[23] or the seven basic tissues namely '*Sapta-dhātu*' viz rasa (plasma), *rakta* (blood), *māṁsa* (muscular tissue , *medas* (adipose-tissue), *asthi* (bone tissue), *majjā* (marrow tissue) and *śukra* (reproductive tissue) To maintain these, certain chemical hormones are produced and when they cannot be stored, they are expelled from the system. If there is perspiration due to *prāṇāyāma*, chemical hormones are released unnecessarily Therefore the perspiration should be rubbed back in to the skin so that the hormones are reabsorbed through the pores This also helps to rebalance the system and tone the nerves and muscles

To sum up, after the performance of *Āsanas* and *Ṣaṭkriyās*, the aspirant in the developing stage of practising *prāṇāyāma* known as *Nāḍī śodhana kriyā*, attains a state of purification and starts sweating due to the heat produced in the body This sweat helps the body to maintain the normal temperature of the body, by loss of accrued heat. In this process the body loses the *Doṣas* or dirt and becomes very clean. The body which thus has lost the *Jaḍatva* or grossness attains *Laghutva* and hence becomes *laghu*. Since the aspirant is in the advanced stage of *Prāṇāyāma*, the sweat contains the proteins that the *doṣas* because of his proper diet i.e. *Mitāhāra* And this sweat containing protein (when goes out from the body, the aspirant may lack the required proteins to the body) needs to be rubbed to his body

so as to supply the required proteins to the body and thereby making the body sturdy and yet light. By doing this the hormones are reabsorbed in the body to keep the system balanced and to tone the nerves and muscles too. Thus Svātmārāma states through the (above) two verses that the sweat has all the medicinal value and hence it need not be rubbed away and it ought to be made use of as it plays an important role in the practice of *prāṇāyāma* by an aspirant.

Foot Notes :

* This paper was presented in the 10th World Sanskrit Conference, held at Banglore in 1997 January.

1. The Hindus have unanimously regarded *Patañjali* as the founder of the *Yoga* system and as identical with *Patañjali*, the grammarian, the author of the *Mahābhāṣya*, who lived in the 2nd Cent. B.C. But Hermann Jacobi has made it probable on philosophic-historical grounds that the *Yogasūtras* were composed after A.D. 450, vide : *Journal of American Oriental Society* XXXI 1911, 24 ff ; Bruno Liebich, '*Das Katantra*' Heidelberg 1919, p 7 ff.
2. The Encyclopedia of Religion, Vol. 15, New York, pp. 519-529.
3. *Yamaniyamāsanaprāṇāyāmapratyahāra dhāraṇadhyāna samādhayo' ṣṭavaṅgam*.

   —*Pātañjala Yoga Sūtra* II- 29.
4. *Pratyāhārastathā dhyānaṁ prāṇāyāmo'tha dhāraṇa /*
   tarkaścaiva samādhiśca ṣaḍaṅgo yoga ucyate //

   —*Yoga Upaniṣad*. 6.
5. Practice of breath control leads to a pure mind. It dissolves the covering that hides the effulgence within. Such a mind is fit for concentration *Pātañjala Yoga Sūtra*, II. 52-53.
6. i. *Haṭha Pradīpikā*, II. 37.

   ii. It is interesting to note that *Pātañjali* notices four types of *Prāṇāyāma*, the distinction being based upon the nature of the pause. (1) *Bāhya kumbhaka*, (2) *Abhyantara kumbhaka*, (3) *Kevala kumbhaka* and (4) *Kevala kumbhakas*. Cf. *Pātañjala Yoga Sūtra*, II. 50-51.
7. *Kumbhaka* is a synonym of the word *Prāṇāyāma*ac cording to the established facts. Vide (i) *Pātañjala Yoga Sūtras* I.34 and *Vyāsa bhāṣya* too on *Pātañjala Yoga Sūtras*. (ii) Swami Kuvalayānanda, *Prāṇāyāma*, Lonavala, pp. 38-40.
8. *Suryabhedanamujjāyī sītkārī śītalī tathā /*
   bhastrikā bhrāmarī mūrchā plāvinūtyaṣṭa kumbhakah. //

   —*Hāṭha Pradīpikā*. II. 44.
9. *Haṭha Pradīpikā*. II. 31.

10. *Haṭha Pradīpikā*. II. 16.
11. Vide foot note No. 8 above.
12 *Prātarmadhyandine sāyamardharātre ca kumbhakān |*
śanairaśītiparyantaṁ caturvāraṁ samabhyaset ||
Haṭha Pradīpikā. II 11; Cf Patañjali's *Yoga Sūtra* II.53.
13. i. *Haṭha Pradīpikā*. II 12.
ii. *Gorakṣaśataka* also has endorsed this view : *'Adhame ca ghanogharma kampo bhavati madhyame'*, 49.
iii. Brahmānanda, the commentator on the *Haṭha Pradīpikā*, has, it is said, dealt in detail in this regard
14. *Haṭha Pradīpika*, II.13.
15. *Gorakṣaśataka*, 50.
16. *Modern Medical Sciences*
17. *Clinical Methods in Āyurveda*, by K S. Srikanta Murthy, p 261.
18. *Caraka Cikitsāsthāna*, 15.18.
19 *Clinical Methods in Āyurveda* by K. S. Srikanta Murthy, p. 261.
20. *Ibid*. pp 260-262.
21. *Haṭha Pradīpikā*, I.58.
22. *Haṭha pradīpikā*, II.13.
23. *Śiva-Saṁhitā*, II.8.

—Dr. Chandramauli S. Naikar
Head, Dept. of Sanskrit, Prakrit
and Yoga Studies,
Karnataka Arts College
Dharwad—580001

MAHĀVĪRA : A GREAT JAIN MATHEMATICIAN OF CLASSICAL INDIA (9TH CENTURY A.D.)

● *Nagendra Kr. Singh*

The name of Mahāvīra belongs to the list of the great mathematical writers of classical India. As with other famous ancient names, we know very little about him as a man.

All that can be said with any certainty is that he was a Jain by faith, that he lived during the reign of King Amoghāvarṣa Nirpatuṅga (which puts him in the ninth century), and that his original works were written in Kannaḍa They were also translated into Telugu.

Mahāvīra's masterpiece is the *Gaṇita-sāra-saṁgraha* [1] The work begins with the author's respects to the other great Mahāvīra, the twenty-fourth tīrthaṅkara :

"Salutation to Mahāvīra, the Lord of the Jaina, the protector whose four infinite attributes, worthy to be esteemed in all the three worlds, are unsurpassable."

"I bow to that highly glorious Lord of the Jains, by whom, as forming the shining lamp of the knowledge of numbers, the whole of the universe has been made to shine."

The treatise itself consists of nine chapters It begins with an introduction that defines the mathematical terms to be used in the book, and goes on to consider the basic arithmetical operations, fractions, determination of areas and volumes, etc. Mahāvīra was one of the first Indian mathematicians to introduce the lowest common multiple method for the addition of fractions He also discussed the summation of series, and gave a fairly approximate formula for the volume of a sphere.

Algebra was not mere symbolic operation. It was always tied up with practical problems Here, for example, is one that leads to an algebraic equation with radicals :

One-fourth of a herd of camels was seen in the forest; twice the square root (of the number in the herd) had gone to mountain slopes; and three times five camels were found to remain on the bank of a river. How many camels were there in the original herd ? (We leave

it to the reader to find the answer to be 36.)

The following introduction to another problem shows how in *those days mathematics texts* were not dry and matter of fact :

"Into the bright and refreshing outskirts of a forest, which were full of numerous trees with their branches bent down by the weight of flowers and fruits, trees like jambū, lime, plantain, areca palms, jack trees, date palms, hintāla trees, palmyras, punnaṅgas, and mango trees,.. ... the various quarters of which were filled with many sounds of crowds of parrots and cuckoos found near springs containing lotuses with bees roaming around them; into the outskirts of such a forest entered with joy a number of weary travellers There were sixty-three numerically equal heaps of plaintain fruits put together and combined with seven more of the same fruits, and these were equally distributed among twenty-three travellers so as to have no remainder. Now tell me how many plantains were there in each heap."

In his discussion of quadratic equations Mahāvīra spoke of two roots. In this context he stumbled upon (what we now call) imaginary numbers, but he discarded them. We must remember, however, that Mahāvīra was working in the ninth century. Almost a thousand years later, the great French mathematician Cauchy suggested thatone should abandon the symbol of square root of negative one "because one does not know what meaning should be attributed to it." This is what prompted the eminent historian of mathematics, E.T. Bell to say : "The first clear recognition of imaginaries was Mahāvīra's extremely intelligent remark in the 9th century that, in the nature of things, a negative number has no square root "[2]

It is not surprising that in the view of another eminent historian of mathematics, "All things considered, the work of Mahāvīra is perhaps the most noteworthy of the Hindu contributions to mathematics, probably excepting that of Bhāskara, who lived three centuries later."[3]

Isaac Newton stated that he could not have made his fundamental discoveries had it not been for the illustrious investigators who preceded him, that in fact he was able to look farther because he was sitting on their shoulders Mahāvīra in the ninth century made a very similar comment when he described himself as a mere compiler of mathematical truths which had been gathered by many great and holy sages of the past.

Significant as Mahāvīra's works and insights were, they had little impact on the mathematicians of Northern India. The reason

for this was simple : He had not written Sanskrit. And who in the North would read Kannaḍa or Telugu ? This is one of the misfortunes of a great country that is made up of people speaking different languages. In Europe, Latin served in the past as the common language, even as Sanskrit did in India, and English does in our own times. If and when we do replace English perhaps we must bear the fate of Mahāvīra in mind.

References :

1. The work was translated into English by M. Rangacharya in 1912.
2. E. T. Bell, "The Development of Mathematics", (1945), p 175.
3. D. E Smith, "History of Mathematics", (Vol I) (1951), p. 164.

—Dr. Nagendra Kr. Singh
19 A, Poket-E
G.T.B. Enclave
Delhi—110092

BOOK REVIEW

History of Jainism in Bihar by Dr. Binod Kumar Tiwary. The **Academic** Press, Patel Nagar, Gurgaon-122001 First Edition-1996. **Pages** 214+16. Rs. 300.00.

The Academic Press, Patel Nagar, Gurgaon (Haryana) is doing good service and its publications of the Bibliographies on Buddhism, Christainity, Hinduism and Muslims in India are worth mention. It has published two publications on Jainism also i.e *Life of Mahāvīra* and *The Jaina way of life*. A select Bibliography on Jainism is also forth coming, mean while the Press had published the Ph D. thesis of Dr. B. K. Tiwary.

This thesis does not contain the philosophical aspects of Jainism but it seems a good narration of the story of Jaina religion in Bihar during the period under its reveiw. Dr Tiwary comes from Bihar and he is working on the history of Jainism in Bihar. He had tried to deal with the rise of Jainism in Bihar and also its existence and the causes for its decline in the region.

During the time of Mahāvīra, Magadha corresponded roughly with the present areas of *Patna, Gaya, Nalanda, Nawadah, Aurangabad* and *Jehanabad* districts of the Bihar state. Under Bimbisāra and Ajātaśatru, it rose to such an eminence that even centuries later and till the famous Aśoka's Kalinga war, the history of North India is practically the history of Magadh.

This region has served as the cradle of Jainism, as most of the Jaina Tirthaṅkaras were connected to this portion of India, but today the Jainas constitute a small community of the population of Bihar. The main concentration of Jainas in this state is in urban areas and they are mostly engaged in the trade business. The reasons for the decrease in their number is not known. Practically the hisiory of Jainism in this area is still in dark.

Traditional beliefs give abundant testimony to show appreciation of services that Jainism rendered to history and the way of life in Bihar but the authors like C. J Shah (*Jainism in North India, 1932*), G. C. Raychaudhary (*Jainism in Bihar, 1956*), A. K Chatterjee (*A Comprehansive History of Jainism, 1978*), Upendra Thakur (*Studies in Jainism & Buddhism in Mithila. 1964*), and K. C. Jain (*Lord Mahāvīra*

and His Times, *1974*), have not enhanced the features and we do not get an edequate picture of the development

Dr Tiwary had tried to add in this work several salient descriptions of the Jaina works and the foreign accounts compresing the unearthed archaeological materials which constitute the chief source for the study of Jaina religion in Bihar. He includes the archeological materials from the neighbouring areas also which provides valuable information.

Statues of various Jaina Tirthaṅkaras have been found in different parts of Bihar. These are made of both stone and metal. The first authentic statue of a Jaina Tirthaṅkara has been recovered from *Lohānipur* at Patna. Several metal images of Tirthaṅkaras have also been discovered in recent excavations from North and South Bihar. Some temples of *Digambaras* and *Svetambaras* of different ages are also found. The temples of *Pārśvanāth* found at *Rajgriha* and *Champāpuri* are naturally of great importance.

Most of the Jaina Inscriptions, found and deciphered so far, bear date and therefore these become more important than the literary texts *Aśoka* has mentioned, in his idicts, the *Nirgranths*, which are *Svetambaras* He also refers to *Ājīvikas* They were separated from the Jainas with *Mankhāliputta Gośāla* but later on the religion was merged with Jainism. The *Barābar* and *Nāgāarjuni* caves at *Rajgriha* were dedicated to *Ājīvikas* during the reign of *Aśoka* and *Daśaratha* Several other evidences have also been brought to light by the author.

He narrates something important in his *Last Phase of Jainism in Bihar*, when he says that "In the age of commentary and *Bhāṣya*, the Jaina religion could neither get state protection nor could it produce any great and influencial ascetic in Bihar. But this sacred land had still attraction for the Jainas. Therefore not only the intellectual teachers and authors but even the laymen maintained in incessant chain of religious visits to sacred places in this region like *Rājgriha*, *Campā*. *Vaiśāli* *Sammeda Sikhara* and *Gayā* etc, The Jaina preachers visited these places not only to preach their religion but also to make a full survey of the Jaina places they visited."

A lot of information is gathered on the history of Bihar from the *Padma Carita* of *Āchārya Ravisena* of the 7th century A.D. It is learnt that during the regin of *Harshavardhana*, the Jaina religion was in flourishing condition in this region. *Āchārya Jinsena* has also described in his text the flourishing condition of Jainism in this part of India. *Āchārya Haribhadra* has also referred to *Kusumpur* or

Pātaliputra. From the *Bṛhat Kathā Koṣa* of *Harisena*, it is evident that *Śrāvasti* had become a famous centre of the *Digambaras*. Similarly the *Vividhathirtha Kalpa* of *Jinprabha Suri* is a good work on Jaina Pilgrimage and has its importance for giving valued geographical and historical information of the area under review.

Author concludes that the Muslim conquest no doubt, gave the last blow to the tottering edifice of Jainism in Bihar and *Muhammad-bin—Bakhtiar* razed temples to ground, massacred Jaina communities and burnt the manuscripts.

—PARAMESHWAR SOLANKI